राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत अखिलभारतीय तथा विशेषत राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट०
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०६

विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्म-प्रणीत

पथ्यास्वस्ति

प्रकाशक
राजस्थान-राज्याज्ञानुसार
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

वि० सं० २०२५ भारत राष्ट्रीय शकाब्द १८९०

मुद्रक जगदीशचन्द्र स्वर्णकार, अजन्ता प्रिन्टस, जोधपुर

प्रधान सम्पादकीय

स्वर्गीय प० मधुसूदनजी ओझा की यह अमूल्य कृति प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। जोधपुर विश्वविद्यालय मे संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री सुरजनदास स्वामी के परम सौजन्य, अथक परिश्रम एव प्रकाण्ड पाण्डित्य के फलस्वरूप ही इसका अनुवाद-सहित प्रकाशन सभव हो सका है।

विद्वान् सपादक ने हिन्दी-व्याख्या के साथ-साथ बहुमूल्य पादटिप्पणिया भी दी हैं और ग्रन्थ के प्राक्कथन मे कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो पर प्रकाश डाला है। अत सपादक महोदय के हम अत्यत आभारी हैं।

जैसा कि सपादक महोदय ने प्राक्कथन मे सूचित किया है, प्रस्तुत ग्रथ लेखक के 'वाक्पदिका' नामक ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' का एक अवान्तर प्रकरण है। अत यदि सपूर्ण मूल ग्रन्थ उपलब्ध होता, तो प्रस्तुत ग्रन्थ अधिक सुगम हो सकता था। फिर भी सपादक महोदय को ग्रन्थकार के शिष्य होने का गौरव प्राप्त होने से, उन्होने विषय को जिस सुन्दरता से स्पष्ट किया है वह अन्य के लिये असम्भव था।

पुस्तक का नाम कुछ अटपटा-सा है। नि सदेह ब्राह्मणो मे (कौ० ७, ६, श० ३, २, ३, ८, ४, ५, १, ४) 'वाक्' को पथ्यास्वस्ति कहा गया है। परन्तु शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वाक् किसी 'निदान' (३, २, ३, १५) के आधार पर यह नाम ग्रहण करती है। अन्यत्र 'पथ्या' अदिति (ऐ०१,७) और पूषा की पत्नी (गो० उ० २,९) कही गई है तथा उसका सम्बन्ध उदोची (कौ० ७, ६, श० ६, २, ३, १५) तथा प्राची दिशा (ऐ० १, ७) से बतलाया गया है। इसी पथ्या से अग्नि का भी सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योकि अग्नि को पथिकृत् (कौ० ४, ३) तथा पथ कर्ता (श० ११, १, ५, ६) कहा गया है। इस प्रसग मे यह भी उल्लेखनीय है कि वेद मे पूषा का सम्बन्ध भी पथ से है और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पथ्या (गो० उ० २, ९) को पूषा की पत्नी बताया गया है। ऋग्वेद मे स्वस्ति शब्द शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ मे परमानन्द का पर्यायवाची-सा प्रयुक्त[1] हुआ है और वहाँ 'पथ्या' शब्द के साथ भी कई बार आया है। सभवत

१ देखिये लेखक कृत "भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका"

इसी सदभ मे ऐतरेय-ब्राह्मण पथ्या-शब्द का प्रयोग अदिति के लिये करता है और आदित्य को उसका अनुसचरण करने वाला कहता है —

यत्पथ्या (अदिति) यजति तस्मादसौ (आदित्य) पुर उदेति पश्चाऽस्तमेति, पथ्या ह्येषोऽनुसचरति।

(ऐ० ब्रा० १, ७)

अत इस दिशा मे गवपणा द्वारा अध्यात्म-तत्त्व पर पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

यद्यपि इस मीमासा से प्रस्तुत ग्रन्थ के विपय का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, परन्तु इसके द्वारा वैदिक-वाङ्मय के महत्वपूर्ण स्थलो पर प्रकाश पड सकता है। अत आशा है यह मीमासा हमारी 'त्रैमासिक स्वाहा' मे यथाशीघ्र प्रारभ की जायेगी और विद्वान् सपादक के अतिरिक्त स्वर्गीय मधुसूदनजी के अन्य शिष्य भी उसमे भाग लेंगे तो उनका स्वागत किया जायेगा।

अन्त मे विद्वान सपादक को मैं हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ। हमारे सपादन-विभाग के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने इस ग्रन्थ के लिए जो श्रम किया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

फाल्गुन शुक्ला ८, स० २०२५
जोधपुर

—फतहसिंह

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

वेदविद्योद्धारक, वेदरहस्यप्रकाशक, समीक्षा-चक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति, स्वर्गीय, पूज्य गुरुवर्य प० श्री मधुसूदनजी महाराज ने वैदिक ग्रन्थो का सम्यक् परिशीलन कर सहस्राब्दियो से विलुप्त वैदिक विज्ञान को प्रकाश मे लाने के लिए यावज्जीवन भागीरथ प्रयास किया। तत्तच्छास्त्रीय परिभाषाओ के ज्ञान के बिना किसी भी शास्त्र के हृदय (मर्म) को हृदयङ्गम नही किया जा सकता, इसलिए इन्होने वेदो की व्याख्या आदि न लिख कर उनके रहस्यो का उद्घाटन करने वाली वैदिक परिभाषाओ के परिज्ञानार्थ परिभाषासम्बन्धी ग्रन्थो का प्रणयन किया। एतदर्थ १५० से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की। इन ग्रन्थो को उन्होने ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराणसमीक्षा, वेदाङ्गसमीक्षा इन चार प्रधान विभागो मे विभक्त किया।

यह पुस्तक वेदाङ्गसमीक्षा-विभाग के अन्तर्गत 'वाक्पदिका' ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' ग्रन्थ का अवान्तर प्रकरण है। इसका नाम 'पथ्यास्वस्ति' रखा गया है, क्योकि 'वाग्वै पथ्यास्वस्ति' इस श्रुति के अनुसार वाक् को पथ्यास्वस्ति कहते है और स्वरव्यजनादि-विभाग से विभक्त वाक् वर्णरूपा है। इस ग्रन्थ मे भी उन्ही वर्णो की विभिन्न रूप से समीक्षा प्रस्तुत की गई है, अत उन वर्णो की प्रतिपादक पुस्तक के लिए वाग्वाचक पथ्यास्वस्ति शब्द सर्वथा उपयुक्त है।

दूसरी बात यह है कि जिस मार्ग पर सूर्य परिभ्रमण करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है, वह मार्ग सूर्य के चौतरफ सवत्सर मे भ्रमण करने वाली पृथिवी का मार्ग है। उस मार्ग को भी वेद मे पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। वाक् आग्नेय अर्थात् अग्निदेवताक होने से पार्थिवी कहलाती है, क्योकि अग्नि पृथिवी का देवता है। इसीलिये श्रुति मे 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह कहा गया है। निरुक्तकार यास्क ने भी 'अग्निर्वा भूस्थान' इस वचन से इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी अष्टावयवा है, इस कारण पार्थिव वाक् भी अष्टावयव है। इसी आधार पर 'ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्' तथा 'वाचमष्टापदीमहम्' इत्यादि श्रुतियो मे वाक् को अष्टावयवा तथा अनुष्टुप् बतलाया गया है। क्योकि जैसे वाक् अष्टावयवा है उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द भी अष्टाक्षरात्मक है। जिस

प्रकार आकाशस्थ क्रान्तिवृत्त पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग है, उसी प्रकार पार्थिव होने से पृथिवीरूप इस वाक् का मार्ग वर्ण या वर्णमातृका है। इन्ही वर्णों पर वाक् परिभ्रमण करती है। अत जिस प्रकार पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग पथ्यास्वस्ति कहलाता है, उसी प्रकार वाक् का मार्ग वर्णमातृका भी पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यवहृत किया गया है। इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यपदिष्ट करने का यह भी रहस्य है।

इस प्राक्कथन मे सक्षेप से इस पुस्तक मे निरूपित विपयो का तथा इसकी उपयोगिता व महत्ता का प्रतिपादन करने का तुच्छ प्रयास किया जा रहा है।

इस पुस्तक मे मातृकानुवाक, यमानुवाक, गुणानुवाक, अक्षरानुवाक तथा सन्ध्यनुवाक नामक पाँच खण्ड है। मातृकानुवाक नामक प्रथम प्रपाठ मे अवान्तर ६ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मे ९७ वर्णों की आर्पेयी वर्णमातृका का निरूपण है। इस खण्ड मे आठ अयोगवाहो के अन्तर्गत स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, ᳵ ᳶ आदि औरस्य उप्मवर्ण तथा यम के स्वरूप का सुस्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण है।

द्वितीय खण्ड मे औपपादिक १८७ वर्णों का प्रतिपादन है, जिनमे ९७ वर्ण तो आर्पेयी वर्णमातृका वाले ही हैं, किन्तु इनसे अतिरिक्त ९० औपपादिक वर्णों का अधिक निरूपण है।

तृतीय खण्ड मे ६३ या ६४ वर्णों वाले ब्राह्म वर्णसमाम्नाय का वर्णन है जिनका निर्देश-'स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशति। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृता' आदि दो कारिकाओ मे किया गया है। चतुथ खण्ड में ५१ वर्णों वाले माहेश्वर वर्णसमाम्नाय का निरूपण किया गया है।

पञ्चम खण्ड मे मयासुर-विभाग द्वारा परिचालित होढाचक्रनामक ३७ वर्णों वाली आसुरी वर्णमातृका का निरूपण है।

वर्णनिर्देशादि-परिशिष्ट-विचार नामक पष्ठ खण्ड में वर्णमाला को मातृका क्यो कहा जाता है इसका निरूपण किया गया है। अर्थात् अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते हैं और वर्ण ध्वनि के परिच्छेद हैं, अत इन वर्णों को 'मात्रा एव मात्रिका' इस व्युत्पत्ति से स्वार्थ में क प्रत्यय के द्वारा मात्रिका कहा जाता है। मात्रिका-शब्द ही उच्चारण की समानता से मातृका कहलाता है। अथवा यह

वर्णमाला माता की तरह भिन्न भिन्न देशभाषाओं की जननी है, इसलिये इसी साम्य से वर्णमाला को मातृका कहा जाता है।

तत्पश्चात् यह बतलाया गया है कि व्यवहार भाषा से ही निष्पन्न होता है। अतः सर्वप्रथम भाषा ही लोकव्यवहार मे प्रवृत्त होती है। तदनन्तर शनैः शनैः उसमे वाक्य, पद व वर्णों के विभाग प्रचलित हुए हैं। प्रारम्भ मे वर्णों की विशेषता के कारण ही भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न सज्ञायें प्रवृत्त हुई। जैसे रेफ अधम का वाचक है इस विशेषता के कारण 'र' की रेफ-सज्ञा हुई। तदनन्तर शनैः शनैः वर्णों के आगे कारशब्द, तथा इतिशब्द लगाकर वर्णों की सज्ञायें प्रचलित हुईं। जैसे—अकार ककार आदि 'अ' तथा 'क' की सज्ञायें है। इसी प्रकार अ+इति=एति, अ की सज्ञा, विति व की सज्ञा बनी। इसी प्रकार व्यजनो मे स्वर के योग से भी वर्णसज्ञायें बनती हैं। जैसे– क, ख, ग, घ आदि। किन्तु वर्णसज्ञा का यह नियम सभी भाषाओ मे है। जैसे इग्लिश मे एच्, एल्, एफ, बी, सी डी आदि मे 'ए' तथा 'ई' स्वर जोडकर वर्णों का बोध किया जाता है। पारसी भाषा मे भी बे, पे, ते, टे, से, मे यही नियम लागू होता है।

यमानुवाकनामक द्वितीय प्रपाठ मे यम के विषय मे चार मतो का निरूपण किया गया है। इस प्रकरण मे सर्वप्रथम शुद्धजित्, सोष्मजित्, शुद्धधि, सोष्मधि भेद से चार भेद यम के बतलाये हैं और उनकी क्रमशः कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, सज्ञाओ का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् यम के स्वरूप मे चार प्रकार के मतो का प्रदर्शन किया गया है।

प्रथम मत के अनुसार पञ्चम वर्ण के परे होने पर पूर्व वर्ण के द्वित्व होने पर द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। यही यम है। इस पक्ष मे यम पूर्व वर्ण के सदृश वर्णागम है। इसी मत को मण्डूक, वर्णरत्नप्रदीपिकाकार तथा औदव्रजि मानते हैं। इस मत मे पञ्चम वर्णों के परे होने पर उनसे पूर्व वर्णों के प्रथमादि चार अक्षरो के वर्गभेद से २० होने के कारण यम २० हैं। किन्तु शुद्धजित् आदि भेद से वे चार ही हैं।

द्वितीय मत के अनुसार दो पदो के मध्य वर्तमान अर्धमात्राकालिक यति की तरह दो अक्षरो के बीच भी यति होती है। जैसे 'सक्तु' इस पद में सकारोत्तरवर्ती अकार तथा ककार के मध्य यति है। इस यति मे 'सऽक्तु' ऐसा

उच्चारण होता है। किन्तु यह यति अ व क के मध्य में ही हो, यह नियम नही, क व रेफ के मध्य भी हो सकती है। उस समय 'सक् ऽ रतु' ऐसा उच्चारण होता है। पूर्वोत्तरवर्ती दो व्यजनो की तरह यह यतिरूप विच्छेद दो स्वरो के बीच भी होता है किन्तु दो स्वरो के मध्य का विच्छेद विवृति कहलाता है और दो व्यजनो के मध्य का विच्छेद यम। इस मत में यम दो व्यजनो के मध्य का विच्छेद है, अतएव वह अशरीर है। इसी मत को अमोघनन्दिनीकार, प्रदोपकार आदि ने माना है। इस मत में अनुनासिक वर्णों के परे होने पर उनके तथा वर्गो के प्रथमादि चार वर्णों के मध्य विच्छेदरूप यम २० हैं तथापि अनुनासिक वर्णों से पूर्व विद्यमान व्यजन अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण भेद से चार ही प्रकार के हैं, अत उनके तथा पचम वर्णों के मध्य विद्यमान विच्छेद रूप यम भी चार ही हैं।

तृतीय मत यह है कि पदान्त की तरह पद के मध्य में भी स्थानकरणसयोगज वर्णो की तरह वेग से स्थान व करण के विभाग से विभागज वर्ण भी उत्पन्न होता है। पदमध्यस्थ यह विभागज वर्णरूप व्यजन ही उससे आगे वर्तमान अनुनासिक वर्ण के प्रभाव से जब नासिक्य हो जाता है तो यम कहलाता है। पलिक्क्नी आदि में यही स्थिति है। वर्गो के पञ्चम अनुनासिक वर्ण परे होने पर उससे पूर्व प्रत्येक वर्ग के चारो व्यजन द्वित्व होकर यम होते हैं। इस प्रकार इस मत मे यमो की सख्या २० है।

चतुर्थ मत के अनुसार यम २० नही हैं किन्तु चार ही हैं और वे कु, खु, गु, घु हैं। वर्गों के पञ्चम अनुनासिक वर्ण के परे होने पर सभी वर्गो के चारो वर्णों को द्वित्व होने पर कु, खु गु घु, ये ही यम होते हैं। जैसे 'आतनच्मि' में च को द्वित्व होने पर उसके स्थान में कु यम होकर 'आतनच्क्मि' ऐसा ही उच्चारण होता है। इसी प्रकार समार्ज्मि मे 'ज' को द्वित्व होकर 'गु' यम होने से 'समार्ज्ग्मि' उच्चारण होता है।

गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ में वर्णाहित गुणो का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम वाक् के स्थानभेद से वेकुरा, सुब्रह्मण्या गौरिवीता तथा आम्भृणी ये चार भेद बतलाये है। इनमे स्वयभू-मण्डल की वाक् वेकुरा, परमेष्ठिमण्डल की सुब्रह्मण्या, सौरमण्डल की गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डलयुक्त पृथिवीमण्डल की वाक् आम्भृणी है। ये चारो वाक् ही स्वयभू आदि मण्डलो

मे स्थित सर्वपदार्थों की जननी हैं। पृथिवीमण्डलस्थ यह आम्भृणी वाक् भूमि मे सर्वत्र व्याप्त है, इसी से मनुष्य उपजीवित हैं।

प्रकारान्तर से इस वाक् के अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री ये चार भेद किये गये। हैं। इनमे ऋक्, साम, यजूरूप वेदत्रयी अमृता वाक् है। इसी से समस्त विश्व उत्पन्न होता है, इसी मे प्रतिष्ठित रहता है तथा इसी मे लीन होता है। यह वाक् आकाशरूप है। यह अग्नि से उत्पन्न होती है। अथर्ववेद पारमेष्ठदित्य ऋतवाक् है। इसी से भूत उत्पन्न होते हैं। यह वाक् दिक्सोम से उत्पन्न होती है। यह वाक् अथर्व-वेद-रूप है। दोनो वाक् ध्वनिरहित हैं। अत एव इनका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण नही होता। ध्वनिरूप वाक् श्रोत्र से गृहीत होता है। यह ध्वनि वाक् भी अनर्थक व अव्याकृत तथा सार्थक व व्याकृत भेद से दो प्रकार की है। वर्णपदवाक्यादि-विभाग-रहित अत एव अव्याकृत वाक् वायव्या है। वह वायु से उत्पन्न होती है। वर्णपदवाक्य-विभाग-युक्त व्याकृत वाक् ऐन्द्री है, वह सार्थक है, क्योकि उससे अर्थबोधनरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस वाक् मे वर्णपदवाक्यादिविभाग इन्द्र द्वारा किये जाते हैं, अतएव इसे ऐन्द्री भी कहा जाता है।

इसी प्रकरण मे उपर्युक्त चारो प्रकार की वाक् को लेकर तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य, पशुवाक्, पक्षिवाक्, सरीसृपवाक् तथा मनुष्यवाक् रूप से वाक् के चार चार भेद मानकर 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि इत्यादि मन्त्र का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। तत्पश्चात् वर्ण, अक्षर, पद वाक्य मे प्रत्येक के क्रमश चार-चार भेद बतलाये गये है।

इसके पश्चात् प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, करणप्रयत्न व अनुप्रदान-प्रयत्न भेद से वर्णो की व्याख्या की गई है। अर्थात् प्रक्रमस्थानादि के भेद से वर्णों का निरूपण किया गया है। इन्ही के कारण एक ही अकार नाना-वर्णों के रूप मे परिणत हो जाता है। जैसा कि 'अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इस ऐतरेयारण्यक श्रुति से सिद्ध हो रहा है।

उपर्युक्त श्रुति मे स्पर्श और उष्म शब्द स्थानों और करणो के सन्निकर्ष तथा विप्रकर्ष के बोधक हैं। स्थान और करण बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से

दो दो प्रकार के हैं। मुखस्थान से वहिर्भूत उरस्, शिरस् आदि वाह्य स्थान हैं तथा मुखाभ्यन्तर-वर्तमान कण्ठादि आभ्यन्तर हैं। वाह्य स्थानो को प्रक्रम तथा वाह्य करणो को अनुप्रदान कहते है और मुख के अन्दर विद्यमान कण्ठादि स्थानों को मुखस्थान व करणो को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इन उभयविध स्थानो व करणो मे प्रयत्नविशेष से स्थानो व करणो का सकोच व प्रसार होता है। और इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न ये चारो गुण वर्णविशेष की उत्पत्ति मे कारण होते हैं।

इसी प्रकार उपयुक्त श्रुति मे स्पश तथा उष्म शब्द दो स्वरो के सश्लेष व विश्लेष के भी बोधक है। स्वरो के विश्लिष्ट उच्चारण मे एक मात्रा का काल तथा सश्लिष्ट उच्चारण मे द्विमात्रकाल लगता है। विश्लेष तथा सश्लेष से जन्य यह कालरूप गुण भी वर्णविशेष की उत्पत्ति मे कारण है। इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्न व काल इन पाँचो गुणो से किस प्रकार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है, इसी रहस्य का विवेचन इस प्रकरण मे आगे क्रमश किया गया है।

अक्षरनिर्देशनामक चतुर्थ प्रपाठ मे परब्रह्मविद्या तथा शब्दब्रह्मविद्या की समानता प्रतिपादित करते हुए बतलाया गया है कि जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में पर (अव्यय) अक्षर (प्राण) तथा क्षर (भूत) ये तीन तत्त्व हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे भी स्फोट, अक्षर (स्वर) तथा क्षर (व्यजन) ये तीन तत्व हैं। जिस प्रकार परब्रह्मविद्या मे पृथिव्यादिभूतरूप क्षरो की सत्ता प्राणरूप अक्षर के अधीन है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे क्षररूप व्यजनो की सत्ता अक्षररूप स्वरो के अधीन हैं। जिस तरह परब्रह्मविद्या मे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि व सोम ये पाँच मौलिक अक्षर है, उसी प्रकार वाग्ब्रह्मविद्या मे भी अ, इ, उ, ऋ, लृ, ये पाँच अक्षर है। जिस तरह परब्रह्मविद्या मे ब्रह्मादि अक्षरो से ही सारे भूतरूप क्षर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे अकारादि पाँच स्वरात्मक अक्षरो से ही सम्पूर्ण व्यजनरूप क्षर उत्पन्न होते हैं। जैसे—परब्रह्मविद्या में क्षर अक्षर मे आश्रित हैं और अक्षर अव्यय मे समन्वित रहते हैं वैसे ही शब्दब्रह्मविद्या मे व्यजन स्वर मे आश्रित हैं तथा स्वर स्फोट रूप आलम्बन पर आश्रित रहते हैं।

इसके पश्चात् वर्ण तथा अक्षर का पुरुषभेद, सख्याभेद, योनिभेद,

व्यापारभेद, वीर्यभेद, प्रतिष्ठाभेद, अङ्गाङ्गिभावभेद, तथा प्रतिपत्तिभेद इन आठ कारणो से भेद सिद्ध किया है।

पश्चात् द्वितीय खण्ड मे वर्णों के अङ्गाङ्गिभाव का प्रतिपादन किया है। अधिदैवत मे वृहती इन्द्र का छन्द है। नवाक्षर छन्द की वृहती सज्ञा है। अत इन्द्र द्वारा व्याप्त अत एव ऐन्द्री स्वरवर्णरूप वाक् भी नव अवयवो या नव विन्दुओ वाली है। अर्थात् नौ विन्दु या ६ अर्धमात्रायें, स्वर का व्याप्तिस्थान क्रान्तिमण्डल या महिमामण्डल है। स्वर एकमात्रिक होता है। अत वह अर्धमात्रिक पञ्चम व षष्ठ इन दो विन्दुओ पर स्थित रहता है। क्योकि प्राण या आत्मा केन्द्र मे ही स्थित होता है, अत स्वररूप प्राण भी इन नौ विन्दुरूप अर्धमात्रिक व्यञ्जनवर्णों के मध्य मे रहता है। तथापि इसका व्याप्तिस्थान या क्रान्तिस्थान ६ विन्दु तक रहता है। अर्थात् इतने प्रदेश मे वर्तमान व्यजनो को यह स्वर आत्मसात् करने मे समर्थ है। जहाँ कोई व्यजन नही होता, वहाँ केवल स्वर ही अक्षर कहलाता है तथा पूर्व या उत्तर में जहाँ व्यजन होते हैं, वहाँ व्यजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता है। यही वात 'स्वरोऽक्षर सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चाव-सित' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने वतलाई है।

जव कोई व्यजन दो स्वरो के व्याप्तिस्थान मे आ जाता है, तव दोनो स्वरो के वल का विचार कर जिस स्वर का वल उस व्यजन पर अधिक होता है उसी का अग माना जाता है, दूसरे का नही। जैसे कुल शव्द मे 'ल' पर पूर्ववर्ती उकार स्वर की तथा परवर्ती अकार स्वर की व्याप्ति है तथापि वह उत्तर स्वर का ही अग है स्वर का नही क्योकि प्रत्येक स्वर मे पृष्ठत चार पाद तथा पुरत तीन पाद वल होता है। अत लकार पर अकार का चार पाद वल है तथा उकार का तीन पाद वल है। अत अकार का अधिक वल होने से वह उसी का अग है।

तृतीय खण्ड मे अक्षर मे देवता का ध्यान वतलाया गया है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इस श्रुति के अनुसार वाक् पार्थिव और अग्निदेवताक है, क्योकि पृथिवी का अग्नि देवता है। तथापि यह वाक् इन्द्ररूप प्राण से अधिष्ठित है अत उसके साथ एक होने से ऐन्द्री (इन्द्रदेवताक) कहलाती है। यह इन्द्र प्राण आन्तरीक्ष्य व दिव्य भेद से द्विविध है। दिव्य इन्द्रप्राण प्रज्ञाप्राण है। वही इस ध्वनिरूप वाक् मे स्वर-व्यजनरूप विभाग करता है।

आन्तरिक्ष्य इन्द्र वायु से सयुक्त रहता है। इन्द्र-तुरीय वायु ही ऐन्द्रवायव ग्रह बन कर आग्नेयी इस ध्वनि वाक् पर अधिष्ठित रहता है। उपर्युक्त रीति से अग्नि व इन्द्र ये दो देवता इस वाक् के हैं। अग्नि अष्टावयव होती है, अत एक स्वर तथा उसके अनुगत सात व्यजन एक अक्षररूप वाक् हैं। इस वाक का उक्थ (नाभि) रूप अश स्वर पञ्चम तथा षष्ठ विन्दु पर स्थित रहता है तथा उसका प्राणरूप इन्द्र बृहती रूप नौ विन्दुओ को व्याप्त करता है। इसी लिए 'यावद् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्' इस श्रुति में इन्द्र या आत्मरूप ब्रह्म की व्याप्ति वाक् मे बतलायी गयी है। यहाँ ब्रह्म इन्द्रप्राण या आत्मा का वाचक है। इस प्रकार स्वरस्वरूप-निरूपक प्रज्ञाप्राणरूप इन्द्र भिन्न है तथा एक स्वर तथा सात व्यजन, इस प्रकार मिला कर अर्धमात्रिक नौ बिन्दुओ पर व्याप्त रहने वाला आन्तरीक्ष्य इन्द्र प्राण भिन्न हैं। इस आन्तरीक्ष्य इन्द्र को ही 'बीभत्सूना सयुज हसमाहु' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में हस पद से व्यवहृत किया गया हैं। क्योकि यही ९ बिन्दुओ पर व्याप्त इन्द्रप्राण अपने उच्चारण में दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अत एव परतन्त्र व्यजनो को आश्रय प्रदान करता है,और अपने मे उन्हे बद्ध रखता है।

वाक् अब्रूप है क्योकि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत, सेद सवमाप्नोत् यदिद किञ्च' यह यजु-श्रुति वाक् को अब्रूप बतला रही है। तृतीय द्युलोक मे अर्थात् परमेष्ठी लोक मे इस अब्रूप वाक्-तत्त्व के साथ यह ऐन्द्रवायव-ग्रहरूप हस रहता है। अर्थात् ऐन्द्रवायवग्रहरूप इन्द्रप्राण तथा वाक् अविनाभूत हैं। नौ बिन्दुओ को व्याप्त कर रहने वाले वाक् के अधिष्ठाता इस इन्द्र का विद्वानो ने विचारदृष्टि से साक्षात्कार किया।

इस प्रकरण मे यह भी बतलाया गया है कि इन्द्रप्राण का वाक्तत्त्व मे दो प्रकार से विनियोग है—सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप इन्द्र इस वाक्तत्त्व मे वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य आदि विभाग करता है और इसकी सत्ता व्याकृत मनुष्य वाक् मे ही है। अत वही वर्ण, पद, वाक्यादि विभाग हैं। सत्यप्राणरूप से यह इन्द्र व्याकृत व अव्याकृत सभी प्रकार की ध्वनियो मे रहता है। अर्थात् सभी प्रकार की ध्वनियो का वह इन्द्र सत्यरूप से अधिष्ठाता है। सभी प्रकार की वाक् मे इसकी सत्ता मानने की आवश्यकता यह है कि वाक्तत्त्व अब्रूप होने से ऋत अत एव निरात्मक है। वह बिना आश्रय

के रह नहीं सकती है। अत उसका आश्रय यह सत्यप्राणरूप इन्द्र है। इसी के कारण वह अपरिच्छिन्न ऋत-वाक् परिच्छिन्न होकर सत्यरूप बनती है। अन्त म इस प्रकरण के पञ्चम खण्ड मे अक्षरों के गुरुभाव तथा लघुभाव के कारण का विवेचन है।

सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम खण्ड मे स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, विसर्गसन्धिभेद से विभिन्न सन्धियो की मौलिक उपपत्तियाँ बतलायी गयी है। पाणिन्यादिनिर्मित व्याकरणशास्त्रो मे सन्धियो के नियममात्र बतलाये गये है, किन्तु उन सन्धियो के मूल कारण का दिग्दर्शन उन शास्त्रो मे लेशत भी नही किया गया है। इस ग्रन्थ मे उन सन्धियो के मूल कारण का दिग्दर्शन कराया गया है। सन्धियाँ वर्णों का परस्पर सम्बन्ध होने पर होती है। वर्णों का वह सम्बन्ध सर्वप्रथम विभूति तथा योगभेद से दो प्रकार का है। शब्द-ब्रह्म व अर्थब्रह्म का एक ही प्रकार है। अत अर्थब्रह्मरूप परब्रह्म-विद्या मे जिस प्रकार पदार्थो के विभूति व योग दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्म-विद्या मे भी वर्णो के ये दो प्रकार के सम्बन्ध हैं। अर्थब्रह्म मे व्यापक का व्याप्य मे अनुग्रह विभूति कहलाता है। जिस प्रकार व्यापक ब्रह्म का व्याप्य भौतिक पदार्थो मे, जल का लवण मे, आकाश का वायु मे, उसी प्रकार व्यापक स्वर का व्याप्य व्यञ्जनो के साथ सबन्ध विभूति सम्बन्ध है। क्योकि स्वर का व्यञ्जनो पर अनुग्रहमात्र है, बन्धन नही। स्वर व्यञ्जनो को व्याप्त करता है, स्वर के बिना व्यञ्जन की स्थिति ही सम्भव नही। इसी प्रकार व्यञ्जनो का भी व्यञ्जनो के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध होता है। जैसे—रामाणाम्, वर्म्मणाम् इत्यादि मे रेफ व मूधन्य षकार का उत्तर-वर्ती नकार के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध है। इसके कारण 'रामाणाम्' इत्यादि मे 'न' 'ण' 'मे' परिवर्तित हो जाता है।

व्याप्य का व्यापक मे सम्बन्ध सश्लेप कहलाता है। यह इकतरफा सम्बन्ध या बन्धयोग कहलाता है। जैसे—प्रकृति मे, लवण का जल के साथ, वायु का आकाश के साथ। इसी प्रकार व्याप्य व्यजनो का स्वर मे सम्बन्ध सश्लेष है। यहाँ व्यञ्जन का स्वर मे सम्बन्ध है, स्वर का व्यञ्जन मे नही, अत यह इक-तरफा बन्धयोग है। इसी तरह क्षररूप व्यजनो का व्यजन से सम्बन्ध भी सश्लेप होता है। इस सश्लेप-सम्बन्ध मे एक वर्ण का दूसरे वर्ण से सम्बन्धमात्र

होता है, एक वण का दूसरे वरा मे अनुप्रवेश नही। इस सश्लेष-सम्बन्ध म भी वर्णों का परस्पर अनुप्रवेश न होने से सम्बन्ध होने पर भी वर्णागमादि या वर्णपरिवतनरूप सन्धिफल नही होता।

सम्परिष्वङ्गरूप तृतीय सम्बन्ध वर्णों का परस्परसम्बन्धरूप, अत एव परस्परानुप्रवेशरूप है। दो स्वरो का जब परस्पर सम्परिष्वङ्गरूप सम्बन्ध होता है, तब कही तो उनमे प्रसारणरूप परिवतन होता है जैसे—दीर्घ, गुण व वृद्धिसधि मे और कही अनुप्रवेश के कारण दबाव से स्वरो का सकोच होता है जैसे—यण्सन्धि मे। दिव्यस्ति, दिश्वस्ति इत्यादि उदाहरणो मे आदि स्वर इकारादि का परस्वर अकारादि के साथ सम्बन्ध होने पर दबाव के कारण पूर्व एकमात्रिक इकारादि स्वर की उत्तर अधमात्रा नष्ट हो जाती है और इस कारण अवशिष्ट अर्धमात्रिक इकारादि तत्स्थानीय यकारादि स्पर्शो मे परिवर्तित हो जाते हैं।

स्वरसन्धि मे एक स्वर की द्वितीय अर्धमात्रा दूसरे स्वर की पूर्व अधमात्रा से मिलकर एक हो जाती है। व्यञ्जन-सन्धि म एक स्वर से निगृहीत व्यञ्जन का दूसरे स्वर से निग्रहण होता है। जैसे—तत्+आगमनम्, मे द्वितीय तकार का ग्रहण सन्धि से पूव उसके पूववर्ती स्वर से होता है, और वह उसीका अङ्ग है। किन्तु जश्त्वसन्धि के बाद 'तदागमनम्' बनजाने पर 'द्' का ग्रहण उत्तरवर्ती अकाररूप स्वर से होता है और वह उसी का अङ्ग होता है। उच्चारण के द्वारा इन दोनो भेदो को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। यही स्थिति अन्य व्यञ्जनसन्धियो मे है।

स्वरसधि तथा व्यजनसधि दोनो मे ही वणगुणो का अतिरेक अर्थात् परिवर्तन होता है। वर्णों के उपादानभूत अर्थात् उत्पादक वायु मे वर्णस्वरूप-विशेष का उत्पादक बल वणगुण कहलाता है। वह बल आरम्भक तथा विशेषक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूपोत्पत्ति मे काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। आरम्भक बल स्वरोपधायक, अङ्गोपधायक, स्पर्शोपधायक, स्थानोपधायक तथा नादोपधायक भेद से पाच प्रकार का है। इन्ही के कारण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से भिन्न-भिन्न स्वरो की तथा भिन्नस्थानीय वर्णों की उत्पत्ति होती है। इन आरम्भक बलो से सन्धिभेद उत्पन्न नही होते हैं। किंतु इन्ही आरम्भक बलो में जब

विशेषाधानहेतु विशेषक बल का विनियोग होता है, तब विभिन्न सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। क्योंकि विशेषक बल उपजनक, उपघातक, विक्षेपक, विशेषाधायक एवं निरोधक भेद से पाँच प्रकार का है। अतः वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, वर्णादेश तथा प्रगृह्य अर्थात् स्वरूप से स्थिति ये पाँच सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। उपजनक-रूप विशेषक बल वर्णागम का, उपघातक वर्णलोप का, विक्षेपक वर्णविपर्यय का, विशेषाधायक वर्णादेश का तथा निरोधक प्रगृह्यरूप सन्धिफल का जनक है। निम्नाङ्कित वचन में अभियुक्तों के द्वारा इन्हीं पाँच सन्धिफलों का निरूपण किया गया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तदादेश इमे विकाराः।
स्थिति प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसन्निकर्षे ॥इति॥

'झयो होऽन्यतरस्याम्' 'ङ सि धुट्' 'ङ्मो तुक्', 'ङ्णो कुक् टुक् शरि', 'छे च', 'दीर्घात्', 'अनचि च' इत्यादि सूत्रों से होने वाले द्वित्व वर्णागम के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार 'स्वादीरेरिणोः', 'ऋते च तृतीयासमासे', प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे', 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यादि से होने वाली वृद्धि-सन्धियाँ भी अक्षररूप वर्णागम के ही उदाहरण हैं। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, सजभार, विश्ववाट्, मुड्, धुग्, इत्यादि भी इसी के उदाहरण हैं। गर्भादि में 'ह्' से पूर्व 'व्' का आगम तथा विश्ववाड् व धुक् में क्रमशः ड् व ग् का आगम है।

'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य', 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यादि वर्णलोप के उदाहरण हैं। उष्णिक् आदि में उत् के त् का लोप तथा तृचम् में र तथा य का लोप भी इसी के उदाहरण हैं। 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्' 'प्रादूहोढोढ्यैषैष्येसु' इत्यादि से होने वाली सन्धि वर्णविपर्यय का उदाहरण है जिनका स्पष्टीकरण मूल तथा हिन्दी-व्याख्या में कर दिया गया है। 'पश्यक' शब्द से निष्पन्न 'कश्यप', 'कश्य' से निष्पन्न कच्छ, श्रथ व श्लथ शब्द से निष्पन्न शिथिर व शिथिल शब्द, अत्र शब्द से निष्पन्न 'आत्', एवशब्द से निष्पन्न वै शब्द, तु शब्द से निष्पन्न उत् शब्द भी इसी वर्णविपर्यय के उदाहरण हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, बम्, भूमा, भूयान्, निघण्टु आदि भी इसके उदाहरण हैं।

आरम्भक बल में विशेषक बल के उदय से जब लोप, आगम, विपर्यय बलों के समुच्चय के कारण वर्णगुणों में किसी का नाश, किसी का

आगम तथा किसी का विपर्यय एक साथ होता है, उसे वर्णादिश कहते हैं। जैसे—वर्णों के आरम्भक स्थानोपधायक वल मे द्रुति, सम व प्लुति—ये तीन गतिरूप वल हैं। इनमे द्रुति गति के कारण वायु का प्रथम स्थान कण्ठ मे, समगति के कारण तालु, मूर्धा, दन्त इन तीन मध्यम स्थानो में से किसी एक मे तथा प्लुति-गति के कारण वायु का अन्तिम स्थान ओष्ठ में पात होता है। 'शुष्क' शब्द मे द्रुति-गति के कारण कण्ठस्थान म वायु का पात होने मे 'त' के स्थान म 'क' का उच्चारण होता है। 'पक्व' मे प्लुति-गति के कारण वायु का ओष्ठस्थान मे पात होने से 'त्' का 'व्' उच्चारण होता है। इसी प्रकार 'कृष्ट' आदि मे तकार का टकार उच्चारण होता है। इस प्रकार विभिन्न सन्धियो के कारण वर्णागमादि ही है।

१–इस रीति से सक्षेप मे इस पुस्तक मे विभिन्न कतिपय वर्णमालाओ का अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण किया गया है। वैदिक भाषा में प्रचलित स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य, उष्मा, यम आदि का एकत्र इतना स्पष्ट निरूपण प्राचीन शिक्षाग्रन्थो मे भी उपलब्ध नही होता। भाषावैज्ञानिको ने भी भाषाविज्ञान की पुस्तको में केवल वैदिक भाषा मे इतनी ध्वनियाँ है, लौकिक सस्कृति मे इतनी, इतना सा निरूपण किया है, किन्तु इन ध्वनियो का इतना विस्तृत व स्पष्ट विवेचन लेशमात्र भी उन पुस्तको मे नही मिलता और न उनके उच्चारणभेद का प्रकार ही वहाँ मिलता है। जैसे विसग के ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूल व उपध्मा ये ८ भेद भिन्न-भिन्न स्थानो मे हो जाते है तथा सर्वत्र भिन्न-भिन्न ही इसका उच्चारण होता है। इसी प्रकार अकारादि स्वरो से परे भी विसर्ग के उच्चारण मे अन्तर हो जाता है।

२–ऐन्द्र चान्द्र काशकृत्स्न शाकट पाणिनीयकम्' इत्यादि रूप से तथा
इदमक्षर छन्दो वर्णश समनुक्रान्तम्।
ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच। बृहस्पतिरिन्द्राय।
इन्द्रो भरद्वाजाय। भरद्वाज ऋषिभ्य।
ऋषयो ब्राह्मणेभ्य।

इस अक्षरसमाम्नाय की परम्परा मे इन्द्र के नाम का उल्लेख होने से अष्ट व्याकरण-निर्माताओ मे इन्द्र का नाम लिया जाता है। चान्द्रादि व्याकरण-

शास्त्रो की तरह इन्द्रनिर्मित व्याकरण-शास्त्र भी चाहे कभी कोई रहा हो, किन्तु अधिदैवत मे अर्थात् प्रकृति मे किस प्रकार ध्वनिरूप अव्याकृत वाक् को इन्द्र प्राण ने स्वरव्यजनरूप से व्याकृत किया, इसकी मौलिक उपपत्ति इस पुस्तक मे ग्रन्थकार ने वेदग्रन्थो के आधार पर सप्रमाण बतलाई है। जिसका निरूपण इस पुस्तक के गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ मे किया गया है।

३–'अथो वागेवेद सर्वम्' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" इत्यादि श्रुतियाँ वाक् को ही सर्व विश्व का उपादान कारण बतला रही हैं। 'अनादिनिधन नित्य शब्दतत्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत' इस पद्य से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी शब्दब्रह्मरूपी नित्यवाक् का अर्थभाव से अर्थात् जगद्रूप से परिणाम बतलाया है। उस विश्व का उपादानकारण कौनसी वाक् है इसका विवेचन स्वायभुवी, पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी भेद से वाक् के चार भेद बतलाकर स्वायभुवी, ऋग्यजु सामरूपा, अमृता वाक् को विश्व का कारण बतलाते हुए किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी वाक् का भी प्रतिपादन इस पुस्तक मे सुस्पष्ट रूप से किया गया है। इस चार प्रकार की वाक् म हम लोग जिसके लिए वाक् का प्रयोग करते हैं, वह वाक् व्याकृता पृथिवी वाक् है। साथ ही 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इस श्रुति का भी अनेक प्रकार से श्रुतियो के आधार पर सप्रमाण समन्वय किया गया है।

४–'अकारो वै सर्ववाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इस ऐतरेयश्रुति के अनुसार एक ही अकाररूप वाक् से प्रक्रमरूप बाह्य-स्थान, अनुप्रदानरूप बाह्यकरण, मुखस्थानरूप आभ्यन्तर-स्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्नरूप आभ्यन्तर करण एव स्वरो के विश्लेष-सश्लेषरूप काल इन पाचो गुणो के कारण समस्त वर्णों का प्रादुर्भाव है, इसका मौलिक विवेचन इसमे हुआ है। यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान के ग्रन्थो मे इसका विवेचन है। किन्तु मुखबाह्य स्थानो मे नाभि, कण्ठ व शिर मे, नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति मानने पर किस प्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद हो जाते हैं—इसका विवेचन प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर इसी पुस्तक मे मिलता है, अन्यत्र नही।

५–द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति॥

इस श्रुति के आधार पर शब्दब्रह्म व अर्थब्रह्म की समानता है और अर्थब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म की प्रक्रिया है। जिस तरह—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
> क्षर सर्वाणि भूतानि कूट थोऽक्षर उच्यते॥
> उत्तम पुरुपस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर॥

इन गीतावचनो के अनुसार प्रकृति मे अर्थब्रह्म मे अव्यय अक्षर व क्षर की सत्ता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म मे भी स्फोट (अव्यय), स्वर (अक्षर), व्यजन (क्षर) इन तीनो की सत्ता है।

६–स्वर के अक्षररूप होने से तथा व्यजनो के क्षररूप होने से वे एक नही है किन्तु उनम मौलिक भेद है। अक्षर शब्द एकाकी स्वर के लिए भी प्रयुक्त होता है तथा व्यञ्जनविशिष्ट स्वर के लिए भी। एक स्वर की व्याप्ति नौ बिन्दुओ (अध-मात्राओ) तक होती है। उनमे मध्य के दो बिन्दुओ से स्वर के स्वरूप का निर्माण होता है तथा शेप पूर्वापर सात बिन्दुओ पर उसकी व्याप्ति होती है। इत्यादि मौलिक विपयो का प्रतिपादन इसी पुस्तक म सवप्रथम हुआ है।

७–दो स्वरो के, दो व्यजनो के तथा स्वर और व्यजन के मिलने पर नाना सधियाँ होती है जिनका विवेचन व्याकरणशास्त्र मे मिलता है, किन्तु दो वर्णों के मिलने पर ये नाना प्रकार के सन्धिविकार क्यो हो जाते हैं, इसका वैज्ञानिक व मौलिक विवेचन इसी पुस्तक के सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम प्रपाठ मे हुआ है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन की इसलिए भी आवश्यकता है कि इसके बिना स्वरो और व्यजनो के समीचीन स्वरूप का ज्ञान भापाविज्ञान पर ग्रन्थ लिखने वालो को भी नही हो सकता। भापाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले एक विद्वान् ने [1]पतञ्जलि,

---

१ (क) स्वय राजन्ते स्वरा, अन्वग् भवति व्यजनम्।

(ख) व्यञ्जनानि पुननटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटाना स्त्रियो रङ्ग गता यो न पृच्छति कस्य यूय कस्य यूयम् इति, त त तवेत्याहु। एव व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याच कायमुच्यते त त भजन्ते। इति।

(ग) य स्वय राजते त तु स्वरमाह पतञ्जलि।
उपरिस्थायिना तेन व्यग्य व्यञ्जनमुच्यते॥

'याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थो के आधार पर अपने उच्चारण मे अन्य की अपेक्षा न रखने वाले 'अकारादिवर्ण' 'स्वय राजन्ते इति स्वरा' इस व्युत्पत्ति से स्वर कहलाते हैं तथा जो वर्ण अपने उच्चारण म अपने से भिन्न अकारादि स्वरो की अपेक्षा रखते है, वे 'व्यज्यन्ते स्वरस्पर्शरक्षरै' इस व्युत्पत्ति से व्यजन कहलाते हैं। जैसे— क, ख आदि वर्ण। इस प्रकार वे स्वर और व्यञ्जन का भेद बतलाते हुए भी लिखते हैं कि 'कहना न होगा कि भारत और यूरोप द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा कि व्यजन वे हैं जिनका उच्चारण स्वर के बिना नही हो सकता और स्वर वे हैं जिनका हो सकता है', पूर्णत गलत है। हिन्दी के तथाकथित अकारान्त शब्द यथावत व्यञ्जनान्त हैं। अर्थात् उनके अन्त मे व्यञ्जन अकेले बिना स्वर की सहायता से उच्चरित होता है। जैसे—राम्, राख्, आप् आदि। भाषाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले उन महाशय को यह भी विदित नही कि एक स्वर अपने से पूर्व चार व्यजनो तथा अपने उत्तरवर्ती तीन व्यजनो के उच्चारण मे समर्थ है। वहाँ तक उसका महिमामण्डल है। जैसे—सूर्य वृहती पर आरूढ रहता हुआ भी सम्पूर्ण सौरमण्डल का प्रकाशक है, उसी प्रकार ७ व्यजनो का मध्यवर्ती स्वर उन सातो व्यजनो को प्रकाशित करने अर्थात् उन व्यजनो को अपनी सहायता से उच्चारित करने की क्षमता रखता है।

'अत राम् इत्यादि मे 'म्' का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर आकार की सहायता से होता है न कि बिना स्वर की सहायता से।

भाषावैज्ञानिक उदात्त, अनुदात्त, स्वरित को केवल सुर (Tone) जन्य मानते हैं। किन्तु वस्तुत ऐसा नही। यह भेद नाभि से उत्थित वायु के प्रथम प्रक्रम की उरस्, कण्ठ व शिरस् मे समाप्ति होने से होता है। जब नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति उरस् म होती है तो अनुदात्त स्वर, कण्ठ मे होती है तो स्वरित और शिर मे होती है, तो उदात्त होता है। इसका स्पष्ट निरूपण गुणनिरूपणरूप तृतीय प्रपाठ मे विस्तार से किया गया है। अत भाषाविज्ञान के अध्ययन करने वालो को इसका अध्ययन करना चाहिये। नही तो पदे-पदे भ्रान्तियो की सम्भावना बनी ही रहेगी।

अत उपर्युक्त दृष्टियो से यह ग्रन्थ अत्यन्त मौलिक है। उपर्युक्त अनेक मौलिकताओ से इसकी उपादेयता स्वत-सिद्ध है। यह पुस्तक सभी विश्व-

---

१ दुर्बलस्य यथा राष्ट्र हरते बलवान् नृप।
दुर्बल व्यजन तद्वत् हरते बलवान् स्वर।

विद्यालयो मे सस्कृत एम० ए० तथा भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए सग्राह्य होनी चाहिए, ऐमी मेरी धारणा है। विद्वान् यदि ध्यान से इसका अध्ययन करेंगे, तो मेरे इस कथन की उपयुक्तता अवश्य सिद्ध होगी।

विषयो की नवीनता को ध्यान मे रखकर अ त मे इसकी हिन्दी-व्याख्या भी दी गई है। इस विषय को हिन्दी मे समझाकर प्रस्तुत करने का यह प्रयास तो किया गया है, किन्तु विषय की नवीनता तथा मेरी अनभिज्ञता से इसम त्रुटियाँ अवश्य रही है। विद्वान् लोग उनकी तरफ ध्यान दिलायेंगे, तो मुझ पर उनका अत्यन्त अनुग्रह होगा और द्वितीय सस्करण मे उनका परिमार्जन हो सकेगा।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के निदेशक, महामनीषी वेदमूर्त्ति डॉ० फतहसिंहजी ने इस ग्र थ को राजस्थान-पुरातन ग्रन्थमाला से प्रकाशित करने का जो निर्णय लिया और इसके सम्पादन का दायित्व मुझे सौप कर जो अनुग्रह किया इसके लिये मैं और वेद-जगत् उनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

विद्वद्विधेय,
सुरजनदास स्वामी

श्री हरि

पथ्यास्वस्तिः

वेदभाषाया वर्णमातृका प्रदर्श्यते ।

१ परब्रह्माक्षर ज्ञातु शब्दब्रह्माक्षरस्थितिम् ।
विज्ञापयति विज्ञानप्रवणा मधुसूदन ॥१॥
वर्णाक्षर-समाम्नायोऽनेकधा प्रतिपद्यते ।
छन्दोभाषानुगा तत्र पथ्यास्वस्तिर्निरूप्यते ॥२॥
ओष्ठापिधाना नकुली दन्तै परिवृता पवि ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥३॥ (ऐतरेयश्रुति)

ओ सिद्धो वर्णसमाम्नाय. ।

२ तत्र समान-प्रयत्ना भिन्नस्थाना यथा—

अ	इ	ऋ	ऌ	उ—इत्यस्पृष्टा स्वरा ।
ऽ	य	र	ल	व—इतीषत्स्पृष्टा अन्त स्था ।
अ	य	ड	ळ	व—इतिदु स्पृष्टा अन्त स्था ।
ग	ज	ड	द	ब—इति मृदुस्पृष्टा स्पर्शा ।
क	च	ट	त	प—इति तीव्रस्पृष्टा स्पर्शा ॥
ह	श	ष	स	ह—इत्यर्द्धस्पृष्टा उष्माण ॥

३ अथवा समानस्थाना भिन्नप्रयत्ना यथा—

अ	ऽ	अ	ग	क	ह—इति कण्ठ्या ।
इ	य	य	ज	च	श—इति तालव्या.।
ऋ	र	ड	ड	ट	ष—इति मूर्द्धन्या ।
ऌ	ल	ळ	द	त	स—इति दन्त्या ।
उ	व	व	ब	प	ह—इति ओष्ठ्या ।

इत्थ विशुद्धास्त्रिंशत् । हकारयो स्थानभेदेन भिन्नत्वेऽप्युच्चारण-साम्यादेकवर्ण्याभिमाने त्वेकोनत्रिंशत् ॥२९॥

४ अथ समानप्रयत्ना द्विस्थाना यथा—

अँ इँ ॠँ ॡँ उँ—इत्यस्पृष्टानुनासिका ।
० यँ ० लँ वँ—इतोषत्स्पृष्टानुनासिका ।
ङ ञ ण न म—इति स्पृष्टानुनासिका ।
इत्यमनुनासिकास्त्रयोदश ॥१३॥

तदित्थ प्राकृतिका निरूढा वर्णा द्वाचत्वारिंशत् ॥४२॥ एषामेव तेऽन्ये वैकारिका भवन्ति ये यौगिका ये चायोगवाहा. ।

——

५ तत्र समानप्रयत्ना स्वरयौगिका यथा—

आ अ३ । ई इ३ । ॠ ऋ३ । ऊ उ३ ।—इति दीर्घप्लुतानि ।
ए अय् । ऐ आइ । ओ अव् । औ आउ ।—इतिसन्ध्यक्षराणि ।
इत्थ सयुक्तस्वरा शुद्धनासिक्यभेदाद् द्वात्रिंशत् ॥३२॥

६ अथ सोष्माणो व्यञ्जनयौगिका यथा—

० ० ढ ल्ह ०—इति दु स्पृष्टमहाप्राणौ ।
घ झ ढ ध भ—इति घोषिमहाप्राणा ।
ख छ ठ थ फ—इति श्वासिमहाप्राणा ।

इत्थ स्पर्शा सोष्माणो द्वादश ॥१२॥ तेनैते यौगिकाश्चतुश्चत्वारिंशत् ॥४४॥

——

७ अथायोगवाहा.

ऋ ऌ हं —इति स्वरभक्ति ।
आ॒ ई॒ ऊ॒ —इति रङ्ग ।
अं अः ० —इत्यनुस्वारविसर्गौ ।
ळ ळ्ह ० —इति औरस्योष्मा ।
≍क — ≍प ? —इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ ।
कु खु गु घु —इति यमा ।

इत्थमयोगवाहा एकादश ॥११॥

१. स्वरभक्तिः

८ ऋलृवर्णयोरन्तरतो रेफलकारौ परित स्वरभक्त्या नियम्येते ।

ऋलोर्मध्ये भवत्यर्द्धमात्रा रेफलकारयो ।

तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे—इति याज्ञवल्क्य ॥

अस्याश्च ऋकारलृकारस्वरभक्तेश्चतुर्धोच्चारण सप्रदायभेदादवगम्यते। अकाराभास एकेषाम्। ऋषिरिति रषिवत्। इकाराभास प्राच्यानाम्। ऋषिरिति रिषिवत्। उकाराभास उदीच्यानाम्। ऋषिरिति रुषिवत्। एकाराभासो माध्यन्दिनानाम्। ऋषिरिति रेषिवत्। तदुक्त प्रतिज्ञासूत्रे—"**ऋकारस्य तु सयुक्तासयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवमिति।**" ॥ "**ऋकारो हल्वियुग् युक् च सेकारश्छन्दसि स्मृत ।**" इति केशवी ॥ कृष्णोसि, क्रेष्णोसि। ऋत्विय, रेत्विय। क्लृप्त क्लेप्तमिति। एषा मते—इकारोकाराभास प्रतिषिद्ध ॥ अ इ उ ए—इत्येताश्चतस्रोऽर्धमात्रिका स्वरभक्तयो भवन्ति। तासामुच्चारणमात्रे सम्प्रदायभेदादिमे विशेषा आख्याता। न तु लिपौ तासा विशेषा क्रियन्ते। अर्द्धमात्रिकाणामेकमात्रिकस्वरलिपिभिरुल्लेखानवक्लृप्ते। यत्तु लृकार विवक्षमाणा लकारमकारोदयमुच्चारयन्ति तदज्ञानात्। उभयो स्वरभक्ते समानन्यायेन प्रवर्त्तमानतया ऋकारस्य तत्रानवक्लृप्तत्वात् ॥

९ र्ह—इति रेफो लकारस्योपलक्षण, हकारस्तूष्मवर्णानाम्। तेन रलाभ्यामुष्मप्रत्यये मध्ये य स्वरसदृशो ध्वनिरुत्पद्यते सा स्वरभक्ति ।

रलाभ्या पर उष्माणो यत्र तु स्यु स्वरोदया ।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥१॥
स्वरभक्ति प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान् परिवर्जयेत् ।
इकार चाप्युकारञ्च ग्रस्तदोष तथैव च ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यनारदादय ॥

पर्शु। वर्षम्। बर्हि। वल्शा ॥ अत्र रेफोष्मणोरन्तरतोऽर्द्धाकारवदाभासो नैसर्गिक। माध्यन्दिनाना तु अत्यल्पमात्रैकारवदाभास

सम्प्रदायसिद्ध । अथापरान्तस्थस्याप्युक्तान्यहल संयुक्तस्योष्मऋकारं-रेकारसहितोच्चारणमेव तृतीयान्तस्थस्येति प्रतिज्ञासूत्रात् । अहल् शल्पूर्ध्वरेफस्य सेकार प्राक्चेति नवाङ्कसूत्रम् । 'विहल्शल्पूर्ध्वरेफो य सेकार प्राक् समुच्चरेद्'इ ति केशवो। रेफो रेकारमाप्नोति शषहेषु परेषु च'इति माध्यन्दिनीया । दर्शत दरेशत वल्शा वलेशा । परे तु 'रलावृलृ वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्रेति प्रातिशाख्योक्तेरल्पमात्राभ्यामृ-कारलृकाराभ्या क्रमेण रेफलकारौ व्यवधीयेते इत्याहु । तेन द्विरुक्त-रेफलकारवत् तत्रोच्चारणाभास सभाव्य । अर्श । अरंश । अर्ह । अरंह ॥ वल्शा । वल्लशा—इति ।

तदित्थमकारवद्वा, ऋकारलृकारवद्वा, एकारवद्वोच्चारितार्द्धमात्रा स्वरभक्तिरित्युच्चारणसम्प्रदायभेदाद् भिन्नाया स्वरभक्तेरिदमनु-शासनत्रय द्रष्टव्यम् । स्वरोदयत्वाभावाद् वष्मशब्दे न स्वरभक्ति ।

——

२. रङ्गः

१० देवा ९ एह, महा ९ असीत्यादौ आ ९—इति विशुद्धादकारात् परत पृथगिव नासिकयोच्चार्य्यमाणो वर्णो रङ्ग । तालुमृदुस्पृष्टानुनासि-कस्य नस्य तालुमृदुस्पृष्टत्वगुणश्च शादर्धमात्रस्थानेऽर्धमात्रिको विवृ-त्यकारीऽनुनासिकोऽवशिष्यते । व्यञ्जनस्य नकारस्य पूर्वस्वरेणानु-रञ्जनात् स्वरवदाभासो भवतीत्यस्य रङ्गशब्देन व्यपदेश । नायम नुस्वारः । स्वरानुस्वारयोरव्यवधानोपपत्त्याऽनुस्वारेण पूर्वस्वरस्य-ग्रस्तत्वमनुभूयते । इह तु दीर्घस्वरात् पृथक् तदुच्चारणात् स्वरग्रासो नास्तीति भेदोपपत्ते । तस्मादयमन्यो वर्णो रङ्ग । उक्त च—

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीत नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम् ।
दीर्घं स्वर प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥१॥

——

३. अनुस्वारः

११ अं—इत्यत्र स्वरादूर्ध्वं नासिकयोच्चार्य्यमाणो वर्णोऽनुस्वार । तस्यानुस्वारस्य नकारवदाभासो भवति। नकारो मृदुस्पृष्ट किन्त्वयमनुस्वार ईषत्स्पृष्ट इति वर्णान्तरत्वम्। श ष स ह रेषु तु प्रत्ययेषु अनुस्वारस्योच्चारणत्रैविध्यमनुभावयन्ति। तत्र तावत् नकारसदृशध्वनिर्बह्वृचानाम्।

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्य स्वरानुग ।
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्य ह्रो शषसेषु च ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात्। वन्श । कन्स । दन्त्यानुनासिकत्वान्नकाराभासमात्र, न त्वय नकार एव। अनुस्वारस्त्विति तु शब्देन प्रत्ययान्तरवच्छषसहरेष्वपि अनुस्वारशब्देनव व्यवहारो नतु मकारणकारादिवत् सज्ञान्तरमपेक्षते—इत्याह॥

१२ अथ मकारसदृशध्वनिश्छन्दोगानाम्। तस्यानुस्वारस्य मकार इति सज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम्।

आपद्यते मकार रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वार ।
यवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम् ॥१॥

इति नारदीयात्। अथवा अस्तु तावद्—

'अनुस्वारं रोष्मसु मकार"

इतिकात्यायनप्रातिशाख्यसूत्रैकवाक्यत्वादिहापि नारदीये मकारोऽनुस्वारमित्येव निर्धारित पाठ, अस्तु वा मकारस्थानेऽनुस्वारस्यैव विधान तथापि तस्यानुस्वारस्य छन्दोगसप्रदायानुरोधान्मकारसदृशध्वनिरेवास्थोयते। वम्श । कम्स ॥ ओष्ठ्यानुनासिकत्वान्मकाराभासमात्र न त्वय मकार एव॥

१३ अथैतेष्वेव प्रदेशेष्वनुस्वारस्य—ङकारसदृशध्वनिरध्वर्यूणाम्। तङ् रामङ् रावणारिम्। सिङ्ह, वङ्श, कङ्स,। कण्ठ्यानुनसिकत्वान्

ङकाराभासमात्र न त्वय ङकार एव । ङकारसदृशध्वनेस्तस्य गुंकार इति सज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम् ॥ अद्यत्वे तु वेदोच्चारका गु शब्दमेवोच्चारयन्ति, तदज्ञानात् । "कु खु गु घु यमा"—इति सूत्रेण गुकारस्यानुस्वारशब्दवत् सज्ञाशब्दतया स्वरूपपरत्वासभवात् ॥ "स्व रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा"—इत्याचार्य्याणा सिद्धान्तात् । यमप्रकरणे सज्ञाशब्दो नानुस्वारप्रकरणे इति तु न भ्रमितव्यम् । एकत्र निर्णीत शास्त्रार्थोऽन्यत्राप्युपकारको भवतीति न्यायेन समानशास्त्रे सज्ञाशब्दस्य मर्वप्रकरणे साम्येन व्यवहारौचित्यात् ॥ गुशब्दस्य द्विमात्रवर्णतया तदुच्चारणे नियताक्षरच्छन्दोव्याघातेन कर्मलोपप्रसङ्गाच्च ॥

"मित्र सꣳसृज्य पृथिवीं भूमि च ज्योतिषा सह ।
रुद्रा सꣳसृज्य पृथिवी बृहज्ज्योति समोधिरे ॥
दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये ।
अꣳहस, द ꣳ ष्ट्राभ्याम्, मा हि सी ॥"

इत्यादिष्वभीष्टच्छन्दोभङ्गदोषस्यार्थप्रतिपत्तिक्लेशदोषस्य वा गुशब्द-मुच्चारयता गले पतितत्वात् । प्रकृतिसिद्धोच्चारणत्रैविध्ये व्यवस्थापक-शास्त्राणामन्यतमपक्षनिर्धारकतया चारितार्थ्य सभवति गुस्वरूपोच्चार-णाय शास्त्रानुज्ञाने तात्पर्य्यालाभात् तथोच्चारणस्याशास्त्रीयत्वाच्च ॥ या तु—

"अनुस्वारस्य ꣳ मित्यादेश शषसहरेफेषु"

इति प्रतिज्ञासूत्रे इतिशब्दोल्लेखाद् गुशब्द स्वरूपपरो न सज्ञाशब्द इति बहूनामद्यतनाना वेदपाठिना प्रतिपत्ति । सेय भ्रान्ति । तत्रे-तिशब्दस्य "कु खु गु घु यमा"—इत्येतदुक्तगुकारस्मरणार्थतया अन्यार्थत्वात् । यमवचनोऽय गुकारो यादृशमुच्चारण लक्षयति तथैवेहाप्यनुस्वारस्योच्चारणे जानीयादिति हि तदभिप्राय. ॥ वश । हवीषि । कस । सिंह । त रामम —इत्येवमादिषु अनुस्वारस्य-

नकारमकारङकारान्यतमप्रतिकृत्योच्चारण प्रकृत्या सिद्धे तत्रेय वैदिकाना वेदभेदाद् व्यवस्था बोध्या ॥

---

४. विसर्गः

१४ अ —इति विसर्ग । अकार उपलक्षण स्वरवर्णानाम् । स्वरादुत्तरो हकारवदाभासमानो हकारभिन्नो विक्षेपकध्वनिर्विमर्जनीय ॥ अग्नि । हकारवदाभासमानोऽप्यय विसर्गो न हकार । हकार-स्यार्धस्पृष्टत्व सस्वरभक्तिकत्व चोपपद्यते । विसर्गस्त्वयमीपत्स्पृष्ट स्वरभक्तिशून्य । तस्माद्वर्णान्तरम् । उक्त च—

> यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।
> एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकार परिवर्जयेत् ॥१॥

हकार परिवर्जयेदित्यस्य स्वरभक्तिवैशिष्ट्यप्रनिषेधे तात्पर्य्य-मुन्नेयम् । हकारभिन्नोऽप्यय विसर्गो नूनमूष्मशब्देन व्यपदिश्यत एव । तथा चाह पाणिनि —

> ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
> जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ॥२॥

---

५. औरस्योष्मा

१५ ह्न ह्म—इत्यौरस्य उष्मा । अत्र च नकार उष्मणा, रेफो यवला-नामुपलक्षणम् ।

> हकार पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च सयुतम् ।
> औरस्य त विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसयुतम् ॥१॥

इति ॥ पूर्वाह्ण । वह्नि । ब्रह्मा । मह्यम् । ह्रद । ह्लाद । विह्वल ॥

—

६ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ

१६ ᳵक ᳵख—इति कखाभ्या प्राग् हकारसदृशध्वनिर्जिह्वामूलीय । ᳶप ᳶफ—इति पफाभ्या प्रागुपध्मानीय ॥ क ᳵकवि । क ᳵख्वल । क ᳶपटु । क ᳶफली ॥

—

७. यमा॰

१७ अनासिक्यस्पर्शादुत्तरतो नासिक्यस्पर्श सति मध्ये पूर्वसदृशो वर्णो-विच्छेद जनयन्नुच्चार्यमाणो यम उच्यते। इमे स्पर्शा स्थानकरण-स्पशजन्मानो भवन्तीति निसर्ग, किन्तु तदुत्तरे सति यमे स्पर्श-विच्छेदजन्मा पूर्वसदृश कश्चिद्वर्ण प्रादुर्भवति स यमजनितत्वाद् यम इत्याख्यायते। इत्थ स्पर्शविच्छेदजन्य प्रतिध्वनिर्यद्यप्यवसाने ऽन्तस्थपञ्चमपरत्वे च सभवति — रामात्त्-शुक्क्, अग्ग्निरिति। तथापि पञ्चमपरत्वे *नासिक्यतावैलक्षण्यादयमपूर्व* प्रतिध्वनि-र्यमोनाम वर्णान्तरत्वेनेष्यते ॥ वृक्ण । पलिक्नी । रुक्मम् । रत्नम्। आत्मा। स्वप्न । पाप्मा। द्वित्वसिद्धा आगमा वा अपञ्चमस्पर्शा विंशतियमा इत्येकदेशीयमतम् ॥ क ख ग घ इति चत्वार एव यमा इति केचित्। तत्रैते चत्वारो द्वित्वसिद्धा वर्णा एव यमा इत्येके। वर्णागमा इति तु तैत्तिरीया॰। आर्त्क्नी। सक्थ्क्ना। यज्ञ इति वर्णागमत्वात् कङौ यमौ। ङकारे यमे तन्निबन्धन जस्य कुत्वमिति यज्ञशब्दे गकारङकारञकारा सयोग ॥ आर्षोच्चारणप्रचारभूयस्त्वादिह यमसहितोच्चारण-सप्रदायप्रवृत्ति । लोकमात्रप्रयुक्ते तु शब्दविशेषे तथोच्चारण-

सम्प्रदायो नास्ति। याच्ञा। केचित्तु राज्ञ इत्यत्र जकार-ञकार-मध्यवर्त्तिनो यमस्य जस्य नासिक्यत्वोपरञ्जने प्राप्ते तालुस्पृष्टो नासिक्य-प्रयत्नविरोधान्नास्तीति कृत्वा स्थानपरिवर्ते द्रुत्या गस्वरूपत्वम्। ततो गकारपरत्वे पूर्वस्यापि जस्योपरञ्जनाद् गत्वमित्याहु। ञकारोऽस्ति तालुस्पृष्टो नासिक्योऽस्तीति तु नाशङ्क्यम्। तस्य नासिक्यान्त स्थतये-षत्स्पृष्टत्वात्। स्पृष्टस्तालव्यो नासिक्यो नास्तीत्यत एव तत्स्थानेऽन्त-स्थोऽनुनासिक प्रातिनिध्येनोच्चार्य्यते इति विज्ञेयम्। केचित् त्वाहु—नैते यमा विंशति। न वा चत्वारो नाप्येते वर्णा सन्ति, किन्तु—

जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित।
अशरीर यम विद्यात् समार्ज्ज्मीति निदर्शनम् ॥१॥

इत्यमोघनन्दिन्याद्युक्तेर्यमस्याशरीरत्वसिद्धान्तान्नैतस्योच्चारण शक्यम्। तथा चाह कात्यायन —

"अन्त पदेऽपञ्चमा. पञ्चमेषु विच्छेदम्।

—रुक्क्ऽमेत्यादौ कद्वित्वे तत उत्तर पञ्चमात् प्राग् नासिक्या-नासिक्यविरोधप्रभावान्मध्ये यतिरुत्पद्यते तदिद विच्छेदमात्र यमो न वर्ण इत्यभिप्राय। विभिन्नोच्चारणसम्प्रदायाधीना ह्येताश्चतस्र प्रतिपत्तयो भवन्तीति बोध्यम्। चतुर्ष्वपि सम्प्रदायेषु पूर्वाक्षरे सत्येवाय यम स्थान लभते नान्यथा। तस्मात् सिद्धान्तकौमुद्या घ्नन्तीति यमोदाहरण निघ्नन्ति विघ्नन्तीत्याद्यमिप्राय द्रष्टव्यम्। ज्ञाने तु यमो नास्ति। ज्ञाधातोर्गकार - पूर्वकानुनासिकतालव्येषत्स्पृष्टा-रञ्चत्वावगमात्। तदित्थ सप्तनवति (९७) वर्णोऽयमार्णेयोऽक्षर-समाम्नाय।

इति प्रथम खण्ड ॥१॥

मातृकानुवाके

साप्ताशीतिशतिको

द्वितीयः खण्डः । २ ।

१ एभिस्त्रिपुनरेभ्यो निरूढ-योगिका-योगवाहेभ्योऽन्येऽपि नवविशेष पाठिका वर्णा दृश्यन्ते । तेषामपि संग्रहणे तु सप्ताशीतिशतं ते सर्वे छन्दोगाम्नायवर्णा (१८७) भवन्ति । ते यथा

२	अ	आ	अ ३
	इ	ई	इ ३
	ऋ	ॠ	ऋ ३
	ऌ	०	ऌ ३
	उ	ऊ	उ ३

इति ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाद् भाविस्वराश्चतुर्दश । ऌकारस्य दीर्घो नास्ति ।

३	ए	ए ३ ॥	ऐ	ऐ ३
	ओ	ओ ३ ॥	औ	औ ३

इति सन्ध्यक्षरस्वरा अष्टौ ॥ ८ ॥

---

४ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इति षट्-षष्टिः ॥ तेषां शुद्धस्वरत्वं विवृतत्वमस्पृष्टत्वं च साधर्म्यम् । ऌकारः प्लुतोऽस्तीति कृत्वा तद्भेदास्त्रयोऽधिका इह निर्दिशिता ।

---

५ रलपूर्वा उष्मवर्णा ऋऌवर्णौ च स्वरभक्तिस्थानानि । स्पर्शः । हर्षः । अर्हः । एषु रेफोष्मणोरन्तरतः स्वरभक्तिः । ऋऌवर्णयोस्तु स्वरभक्त्योरन्तरतो रेफलकारौ । यथोक्तं कात्यायनेन

"ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ"

इति (का प्रा ४ः १४६)

---

६ ऽ य र ल व—इतीपत्स्पृष्टान्तस्था, ईषन्नादा पञ्च । तत्रादिवर्णो विवृति । यथाह याज्ञवल्क्य —

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते
विवृतिस्तत्र विज्ञेया यऽईशेति निदर्शनम्॥१॥

---

७ अ य ड ळ व इति दुःस्पृष्टान्तस्था पञ्च ॥५॥ तत्रादिवर्ण सवृतोऽकार । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे सवृत प्रक्रियादशाया तु विवृतमेव । यत्तु प्र उ ग- शब्दे यकारस्थानीयस्तद्विकारसिद्ध सवृतोऽकार । तेनोकारे विवृते तस्य सन्धिर्नास्ति इत्याहु केचित् तन्न । यकारस्थानीयविवृत्यैव तत्रापि सन्ध्यभावसभवात् । वस्तुतस्तु यकारस्येपत्स्पृष्टस्य प्लुतिप्रतिक्षेपाद् वकारत्वे सजातीयाभिभावकत्वा-दनभिव्यक्तया लोप । तथा च न यकारस्थाने विवृत्यकार सवृताकारो वाऽऽदिश्यते । प्रशब्दाकारस्तु सवृतो विवक्षित । तस्मान्न सन्धि ।

---

८ यवयोर्दुःस्पृष्टयो पदादौ यरहानुस्वारपूर्वत्वे च स्थानम् । दुःस्पृष्टयवोच्चारणे ईपत्स्पृष्टापेक्षया किंचिदधिकस्पर्शोपपत्त्या स्पृष्टापेक्षया त्वल्पस्पर्शोपपत्या तदुभयरूपाभास ॥ उक्त च प्रतिज्ञासूत्रे—

"अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्सयुक्तासयुक्तस्य रेफो-ष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेपूच्चारणे जकारो-च्चारण द्विर्भावेऽप्येवम् ।"

इति—यकारस्य लघुप्रयत्नतरस्य सतो जकारोच्चारण ब्रुवता यकारजकारयोर्मध्यमवृत्योच्चारणमभिप्रेयते । तथा नारदोऽप्याह—

पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च ।
ज शब्द इति विज्ञेयो योऽन्य स य इति स्मृत ॥१॥

ज इति जकारवदाभासमाह । यदु । यम । शय्या । निकाय्यम् । सूर्य्य । वीर्य्यम् । आन्तर्य्यमित्यत्र रेफयकारसयोगयोर्भिन्नसस्थयोरुच्चारणक्रमे यो भेदो दृश्यते तत्र रेफस्य पराङ्गत्वपूर्वाङ्गत्वे, यकारस्येषत्स्पृष्टत्वदु स्पृष्टत्वे च हेतू भवत । रेफस्य पूर्वाङ्गत्वे सत्येव यकारस्य दु स्पृष्टत्वसिद्धान्तात् ॥ सह्यम वाह्यम् । अहयु । शयु । यकारस्येह दु स्पृष्टत्वेऽनुस्वारोऽनुनासिकयकारो वा भाष्यते । येषा त्वीषत्स्पृष्टत्व यकारस्येष्यते तेषामय शम्युशब्द स्मर्य्यते । वर । वीर । वाय्वो । मव । विह्वल । शवूक ।

वकारस्य तु दु स्पृष्टस्य पदादिवत् पदमध्य सयोगादिश्च स्थानम् । देव , शिव , काव्यम्, भव्यम्,॥ यम्या यद्यपीत्यादौ, विश्व विद्वानित्यादौ च प्रथमौ यकारवकारौ गुरुप्रयत्नत्वाद्दु स्पृष्टौ भवतो द्वितीयौ तु लघुप्रयत्नत्वादन्तस्थौ विज्ञायेते ॥

६ पदादौ सयोगादौ च दु स्पृष्टस्य डस्य प्रतिषेध । डमर , कुड्य , वड्र । कुड्मलादिषु सयोगादौ क्वचित्स्पृष्टदु स्पृष्टयोर्विकल्प । स्वरद्वयमध्ये त्वस्य दु स्पृष्टस्य डस्योच्चारणस्थानम् ॥ निगड ॥

' छन्दसि स्वरमध्यस्थस्य डस्य ळत्व वक्तव्यम्" । अग्निमीळे । माध्यन्दिनानामय नास्ति ।

---

१० ह श ष स ह—इत्यूष्माण पञ्च ईषच्छ्वासा अर्द्धस्पृष्टा । तत्रैतौ हकारौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ नामाख्यायेते । जिह्वामूलीयकण्ठ्ययो प्रभवसादेश्यात् कण्ठ्यस्याप्येतेनैवोपसग्रह ॥ हकारोऽय पञ्चस्थानो

भवति। कण्ठ्यतीव्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स जिह्वामूलीय ।ᳵकᳵख इति ॥१॥ ओष्ठ्यतीव्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स उपध्मानीय ।ᳶपᳶफ इति ॥ २ ॥

जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरुच्चारणसाम्येऽपि स्थानभेदाद्वर्णभेदाभिमान । मुखमध्यस्थानीयादर्धस्पृष्टप्रत्ययत्वे स विसर्जनीयो नामोच्यते । क शम । क पडङ्क्ष । क सुत । अवमानेऽपि विसर्ग । क । उभयत्राश्रयस्थानत्वाविशेषादेकवर्ण्याभिमान ॥ ३ ॥ नासिक्यान्त स्थप्रत्ययत्वे स औरस्य । ह्न. ह ॥

"**अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिन**" इति हि शैक्षिका पश्यन्ति ।

> आद् ऋकाराच्च कण्ठ्य स्यादि ऐकारात्तु तालुज ।
> उ औकारात् म ओष्ठ्य स्यादेकारात् कण्ठतालुज ॥१॥
> ओकारात्तु स कण्ठोष्ठ्यो विसर्ग इति निर्णय ।
> पूर्वस्वरस्थानभाक्त्वात् स्वरभक्तिस्तथोच्यते ॥२॥
> देव सह, मति साहि सर्वे माहि हुवत्पशु ॥
> नौ सहुर्हेमते साधो सहोवदिति भाव्यताम् ॥३॥
> लघुमाध्यन्दिनीयाया शिक्षाया दर्शितस्तथा ॥
> विसर्गस्वरभक्तीना भेद उच्चारणक्रमे ॥४॥

अथ नासिक्यान्त स्थप्रत्ययत्वे सहकार औरस्य, ह्ल ह्न ह्म ह्य ह्ल ह्व ॥ ४ ॥ अथास्पृष्टप्रत्ययत्वे स कण्ठस्थान सह सहितो हुतो हृदि ॥ नातोऽन्यत्र हकार प्रयुज्यते। तेष्वेतेषु पञ्चसु हकारेषूच्चारणमर्द्धस्पृष्टप्रयत्नश्च साम्येनोपपद्येते ॥

---

११ मुखे त्रीणि स्थानत्रयाणि—प्रथमानि मध्यमान्युत्तमानि चेति। उर कण्ठ कर्णमूलमिति प्रथमानि। तालुमूल, मूर्द्धा दन्तमूलमिति मध्यमानि । सृक्का, उपध्मा ओष्ठमित्युत्तमानि॥ तेषु प्रथमस्थानत्रये उत्तमस्थानत्रये चार्द्धस्पृष्टत्वेऽनभिव्यक्तभेद ह इति समानमिव रूप

सभवति। मध्यमस्थानत्रये त्वर्द्धस्पृष्टत्वे हकाराद् भिन्नरूपत्वेऽपि त्रयाणामुष्मणामत्यल्पभेद समानमिव रूप जायते शषस इति। तत्र मध्यमस्य मूर्धन्यषकारस्य कवर्गद्वितीयवदुच्चारण माध्यन्दिनीया कुर्वन्ति। यथोक्त केशवीसूत्रे "ष खष्टुमृते च" इति॥

सोऽयमज्ञाननिमित्त सप्रदायविशेषो नत्वत्र प्रयत्नदोषादिकारण प्रतिपद्यते। उच्चारणमात्रमन्यथा क्रियते नतु लिपौ व्यत्यास इति बोध्यम्॥

---

१२ स्वरभक्तिरेका, दशान्तस्था, अष्टोष्माण,—इत्येतेषा स्वरव्यञ्जनोभयसधर्म्मणामेकान्न (कोन) विंशतिवर्णानामल्पस्पृष्टत्वमल्पविवृतत्व च साधर्म्यम्॥

---

१३ ग ज ड द ब—इति घोषा सवृता ईषन्नादा स्पृष्टा पञ्च॥५॥
क च ट त प—इत्यघोषा विवृता ईषच्छ्वासा स्पृष्टा, पञ्च॥५॥
एषा दशव्यञ्जनवर्णाना पूर्णस्पृष्टत्वमल्पप्राणत्व निरनुनासिकत्व च साधर्म्यम्।

---

१४ ढ ळ ह्—इति दु स्पृष्टौ द्वौ॥२॥ तथा चाह कात्यायन—
"डढौ ळलहावेकेषाम्" (का० प्राति० ४।१४४।) इति॥ एतच्च स्वरमध्ये समानपदे द्रष्टव्यम्। अषाढा। अषाल्हा। अत्र द्वितीयो वर्णो माध्यन्दिनाना नास्ति॥

---

१५ घ झ ढ ध भ—इति नादा सवारा घोषा पञ्च॥५॥
ख छ ठ थ फ—इति श्वासा विवारा अघोषा पञ्च॥५॥ एषा द्वादशव्यञ्जनवर्णाना स्पृष्टत्व सोष्मत्व महाप्राणत्व च साधर्म्यम्।

र ल ड ण न मादीनामपि सोष्मत्व सभाव्यते, किन्तु छन्दोभाषाया तेषामनाम्नाना(या)दनादर· ॥

---

१६ अँ इँ ऋँ लृँ ॐ—इति नासिक्या भाविन स्वरा ह्रस्व-दीर्घप्लुतभेदाच्चतुर्दश ॥१४॥ "ऌकारस्य दीर्घत्व नास्ति" ॥ विशुद्ध-विवृताकारस्य मूलप्रकृतितया भावित्वाभावेऽप्यनुनासिकस्य भावित्व नापोद्(ह्)यते । एँ ऐँ ओँ औँ—इति नासिक्या सध्यक्षरस्वरा दीर्घ-प्लुतभेदादष्टौ ॥८॥ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इति षट्षष्टि ।(६६)। तेषामनुनासिकत्वमस्पृष्टत्व विवृतत्व च साधर्म्यम् ॥

---

१७ अ—इत्यत्र स्वरादुत्तरोऽनुस्वारवर्ण ॥
आ ॱ—इति विशुद्धाद्दीर्घस्वरादुत्तरो रङ्गवर्ण ॥
यँ व लँ—इति त्रयोऽन्तस्था ॥
कुँ खुँ गुँ घुँ—इति चत्वारो यमा ॥
ङ ञ ण न म—इति नादा सवारा घोषा पञ्च ॥

एषा चतुर्दशाना नासिक्यत्व साधर्म्यम् । अत्र तालव्यानामल्पप्राणघोष-स्पृष्टदु स्पृष्टेषत्स्पृष्टानामनुनासिकत्वे समानमुच्चारण भवतीत्यनुना-सिकेषत्स्पृष्टापेक्षया पृथक्त्वेन चवर्गपञ्चमनासिक्यस्य वर्णान्तरत्व-व्यवस्थापन नोपपद्यते । तथापि चिरतनलोकव्यवहारानुरोधादिह वर्णान्तरत्वमाख्यातमिति सन्तोष्टव्यम् ॥

मुखमध्यस्थाना तालव्यमूर्द्धन्यदन्त्यानामनुनासिकाना मृदुतीव्रस्पृष्ट-परत्वेऽनुस्वारवत् समानमुच्चारण भवति । "सञ्चार । सञ्जय । कण्ठ । काण्ड । दन्त । स्कन्द । इत्येवमेषामुच्चारणे विशेषानुपलब्धे ॥ एवमपि—अस्पृष्टेषत्स्पृष्टपरत्वे गुणगुण्यादौ विशेषोपलब्धिरस्तीति णकारस्य वर्णान्तरत्व युक्तम् ॥ "अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामयोगवाहत्व साधर्म्यम् ॥ तदित्थ छन्दोभाषाया सप्ताशीतिशत

वर्णा सिद्ध्यन्ति ॥१८७॥ येषा तु मते विंशतिर्यमा इष्यन्ते तेषा त्र्यधिक शतद्वयम् [२०३] वर्णानामुपपद्यते। तथाच सप्तनवतिर्वा, सप्ताशोतिशत वा, त्र्यधिके द्वे शते वा वर्णा यत्र मतभेदेनाम्नायन्ते, सैषाऽऽर्षेयो वर्णमातृका पथ्यास्वस्ति प्रतिपत्तव्या ॥२॥

॥ इति द्वितीय खण्ड ॥

मातृकानुवाके

॥ अथ ब्राह्मो वर्णसमाम्नायः

चातु षष्टिकस्तृतीय खण्ड ॥ ३ ॥

१　सक्षेपतश्चतु षष्टिरेवैते वर्णा आम्नायन्ते। तदुक्त पाणिनिना—

त्रिषष्टिर्वा चतु षष्टिर्वर्णा सभवतो मता।
प्राकृते सस्कृते चापि स्वय प्रोक्ता स्वयभुवा ॥१॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशति।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृता ॥२॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ꣵक ꣵपौ चापि पराश्रयौ।
दु स्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकार प्लुत एव च ॥३॥ (इति)

२

अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	०	०

॰ ए ए ३
• ऐ ऐ ३
• ओ ओ ३
॰ औ औ ३—इति स्वरा एकविंशति ॥२१॥

——

ग ज ड द ब
क च ट त प
घ झ ढ ध भ
ख छ ठ थ फ
ङ ञ ण न म—इति पञ्चविंशति स्पर्शा ॥२५॥

——

य र ल व
श ष स ह—इत्यष्टौ यादय ॥८॥

——

ᳲ क—इति जिह्वामूलीय ॥
ᳲ प—इति उपध्मानीय ॥
अं—इत्यनुस्वार ।
अः—इति विसर्जनीय ।
कुँ खुँ गुँ घुँ—इति यमा । इति अयोगवाहा अष्टौ ॥८॥

——

ळ—इति दुस्पृष्ट एक ॥१॥

——

ऌकार प्लुत प्रयोगतो नास्तीति त्रिषष्टि । सभवतोऽस्तीति चतुषष्टि. ।

——

८ कात्यायनस्तु प्रातिशाख्ये हुमिति नासिक्यमधिक मन्यमान प्राह—

त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वरा शब्दार्थचिन्तकै ॥
द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसग्रह ॥१॥
एते पञ्चषष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाच ॥
यत्किञ्चिद् वाङ्मय लोके सवमत्र प्रतिष्ठितम् ॥२॥

——

९ स्वरमन्तरेणोच्चारयितुमशक्यत्वादनुस्वारविसर्गयोर्व्यञ्जनत्व-सिद्धान्त ॥

——

१० उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकभाव्यविवक्षणान्न स्वरातिरेक । स्वरभक्ते स्वरेऽन्तर्भाव । विवृत्ते सवृताकारस्य चाकारेऽन्तर्भाव दु स्पृष्टान्तस्थानामीषत्स्पृष्टान्तस्थैरुपसग्रह । औरस्यहकारस्य कण्ठ्यहकारेणोपसग्रह । रङ्गस्यानुस्वारेऽन्तर्भाव ॥

——

११ अस्य चाक्षरसमाम्नायस्य ऋक्तन्त्रव्याकरणे सप्रदाय श्रूयते । यथा-
"इदमक्षरच्छन्दो वर्णश समनुक्रान्तम् । ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय। इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज ऋषिभ्य । ऋषयो ब्राह्मणेभ्य । त खल्विममक्षरसमाम्नाय ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्त प्रब्रूयात्" । इति ।

॥ इति तृतीय खण्ड ॥३॥

——

ऐकपञ्चाशिकश्चतुर्थ खण्ड ॥४॥

अथ माहेश्वरो वर्णसमाम्नायः

१ तत्रैकपञ्चाशद्वर्णा आम्नायन्ते ।

२
अ इ उ ऋ ऌ
० ए ओ ऐ औ
ह य व र ल
ञ म ङ ण न
झ भ घ ढ ध
ज ब ग ड द
ख फ छ ठ थ
च ट त क प
श ष स ह ०

---

३ अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपमख्यानम्—इति महाभाष्यम् । एतैरेकपञ्चाशद्वर्णै सर्वेऽप्यन्ये वर्णा उपसगृहीता भवन्ति ॥

इति चतुर्थ खण्ड ॥४॥

साप्तत्रिंशिक पञ्चमखण्ड ॥५॥

होडाचक्रनाम्नी आसुरी वर्णमातृका सप्तत्रिंशद्वर्णा ।

१ असुराणा पुरात्वे बहवोऽवान्तरभेदा आसन् । तेष्वेको मयासुर-विभागो विद्याशिल्पकलावीरतासभ्यतागुणविशेषाच्छ्रेष्ठ आसीत् एष एवासुरविभाग पुरात्वे यवन इत्याख्यायते स्म ।

तस्य च वर्णमातृका होडाचक्रनाम्नी पुरायुगे सप्तत्रिंशिकाऽऽसीत् ।
सा यथा—

अ व क ह ड
म ट प र त
न य भ ज ख
ग स द च ल—इति प्रस्तीर्या वर्णा विंशति ॥२०॥

—

२ अ इ उ ए ओ—इति मात्रावर्णा पञ्च ॥५॥

—

३ घ ङ छ
ष ण ठ
ध फ ढ
थ झ ञ—इति परिशिष्टा वर्णा द्वादश ॥१२॥

—

४ प्रस्तीर्येष्वकार सवृतो व्यञ्जनवत् । मात्रावर्णेषु त्वकारो विवृत स्वर इति भेद । प्रस्तीर्याणा मात्रायोगात् प्रस्तारे स्वरिता गत वर्णा स्यु । ते यथा—

(१)		(२)	
	अ व क ह ड		म ट प र त
	इ बि कि हि डि		मि टि पि रि ति
	उ बु कु हु डु		मु टु पु रु तु
	ए बे के हे डे		मे टे पे रे ते
	ओ बो को हो डो		मो टो पो रो तो

(३)						(४)					
	न	य	भ	ज	ख		ग	म	द	च	ल
	नि	यि	भि	जि	खि		गि	सि	दि	चि	लि
	नु	यु	भु	जु	खु		गु	सु	दु	चु	लु
	ने	ये	भे	जे	खे		गे	से	दे	चे	ले
	नो	यो	भो	जो	खो		गो	सो	दो	चो	लो

अबजद, हव्वज, हुत्ती, कलमन्—इत्येवमन्यापि काचिदबजद-नाम्नी वर्णमातृकाऽऽसीत् । तस्या आर्यैरपरिग्रहादिह त्याग ॥*॥

इति पञ्चम खण्ड ॥५॥

——

वर्णनिर्देशादिपरिशिष्टविचार षष्ठ खण्ड ॥६॥

अवयवपरिच्छेदो मात्रा । ध्वनिपरिच्छेदाना वर्णत्वमिति वर्णात्मिका परिच्छित्तिर्मात्रिका भवति । उच्चारणसामान्यान्मातृका । अपि वा जनन्या मातृशब्द प्रसिद्ध । जनयित्री हीय वर्णमाला नत्तद्देशभाषाणामिति मातृकाख्यायते ।

भाषाया प्रथमत प्रवृत्ताया कालेन तत्र वाक्यानि, वाक्ये च पदानि, पदे च वर्णा विभज्य परिगृहीता अभवन् । तत्र तत्तद्वर्णादिपदविशेषेण तत्तद्वर्णसज्ञा प्रथमयुगे प्रवृत्ताऽऽसीद् । यथा "रेफ" इत्यधमवचनेन पदेन रस्य सज्ञाऽक्रियतेति प्रथम कल्प ॥१॥

तत इति शब्दो वर्णसज्ञाकरण प्रवृत्तोऽभूदिति कात्यायनादय प्राहु । यथा—**"निर्देश इतिना"**—(१।३६।) इति । एत्यकारस्य । विति वकारस्य । डिति डकारस्य । ईतीकारस्य । सोऽय द्वितीय कल्प ॥२॥

तत कारशब्दो वर्णसज्ञाकरण समपद्यत। "कारेण च। अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य" १।३९। इति कात्यायनोक्ते। अकार ककार इत्यादि। सोऽय तृतीय कल्प सप्रति प्रचरति। "र एफेनच" इति सूत्रयन्तस्तु ते रकार रेफशब्देनापि व्यपदेष्टुमिच्छन्ति। पदेषु वर्णव्याकरणस्य सर्वत पूर्व रेफशब्देनैवारम्भणात्। तत्स्मरणार्थं रवर्णाभिज्ञानस्य माङ्गलिकस्य रेफशब्देनैव विवक्षितत्वात्। यत्तु—"स्वरैरपि"—(का प्रा १।४०।) इति कात्यायनादय प्राहु। तत् सर्वभाषासाधारणमनुशासन भवति। तथाहि नागरीभाषाया तावत्—क ख ग. घ. ङ—इत्यकारेण वर्णा निर्दिश्यन्ते। इङ्गिलशभाषायाम्—ए वि सि डि इत्यादिष्विकारेण, जे के-इत्येकारेण वर्णाना सज्ञा क्रियते॥ पृष्ठतोऽप्ययमेकार क्वचिन्निर्दिश्यते। एफ् एल् एम् एन् एस् एक्ष—इति। आकारोऽपि क्वचिद् यथा—आर—इति॥ पारस्यानभाषायामेकारो यथा—बे पे ते टे से—इत्यादि। अलिफ-शब्दस्तु—"अलिपि इत्यस्यापभ्रशमात्रम्। जीम् मीम् स्वाद सीन—इत्यादयस्तु सस्कृतरेफशब्दवत् प्राचीनसप्रदायसिद्धा पदाभिज्ञानोपपन्ना वर्णसज्ञा द्रष्टव्या। ते च शब्दा रेफवन्माङ्गलिका इति भाव्यम्॥

इति षष्ठ खण्ड ॥६॥

इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे मातृकापरिष्कार प्रथम प्रपाठ समाप्त ॥१॥

अथ यमपरिष्कारो

द्वितीय प्रपाठक

अथात प्रागुक्तो यम पुनरिह वैशद्येन चिन्त्यते । शुद्ध जित्-सोष्म-जितौ द्वौ, शुद्धधिसोष्मधी द्वाविति चत्वारो यमा । ते च कु खु गु घु शब्दै सज्ञायन्ते । यमस्वरूपे चतुर्धा विप्रतिपद्यन्ते ।

१ एकस्मिन् वर्णे पूर्वाक्षरपराक्षयार्युगपद्बलसप्रसक्तौ बल-द्वयविप्रतिषेधाद् वर्णो द्विरुच्यते । तत्र द्वितीयस्यानुनासिकपरत्वे नासि-क्यत्वमतस्तत्र यमशब्द । पूर्वस्य निरनुनासिकतयाऽनुनासिकस्यैतस्य प्रयत्नान्तरग्रहणार्थ मध्ये किञ्चिद्विच्छेदलाभात् । विच्छेदयमयोरेका-र्थ्यात् ॥ प्रयत्नान्तरत्व तु पूर्वस्पृष्टविलक्षण सवृतत्वम् । तथा चाह मण्डूक —

वर्णाना तु प्रयोगेषु करण स्याच्चतुर्विधम् ।
सवृत विवृत चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ॥१॥
स्पर्शाना करण स्पृष्टमन्त स्थानामतोऽन्यथा ।
यमाना सवृत प्राहुर्विवृत तु स्वरोष्मणाम् ॥२॥इति ।

अत्र पक्षे यमो वर्णागम सशरीर पूवसदृशो वर्णविशेष ॥

स्वरात् सयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयक ॥
तस्यैव यमसज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि ॥१॥

इति वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षोक्ते । "अनन्त्यान्त्यसयोगे मध्ये यम पूर्वगुण "—इत्यौदव्रजिसूत्राच्च । तस्य विशतिसरयत्वेऽपि शुद्धजित्व-सोष्मजित्व-शुद्धधित्व-सोष्मधित्वै सग्रहणाच्चतुष्ट्व नोपहन्यते । इत्येका प्रतिपत्ति ॥१॥

२ परे त्वाहु —पदद्वयमध्ये यतिर्विवृतिरर्द्धमात्राकाल । दशरा-मशरा इत्यत्र शमयोरुत्तर विप्रकर्षविशेषानुभवात् । सदा स आयाती-

त्यत्र प्रथमसद्विरतावन्योऽर्थं दाक्षरादन्योऽर्थं ।

काकाली कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा ॥

कस जघान कृष्ण कम्वलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इत्येतेषु तत्र तत्र यतिवैशेष्यादेवैतानि प्रश्नवाक्यान्युत्तरवाक्यरूपायोपकल्पन्ते ॥

कागदही की आस मे बठे निपट उदास

कागदही पाये बिना मिटे न मन की प्यास ॥१॥

इह भाषापद्ये पदान्तविरतित्रयभेदादर्थत्रयमुपपद्यते ॥

तथा च—"सक्रतु" रित्यत्र ककारपृष्ठे सा विरतिरुपपद्यते । सऽक्रतु । अथ कदाचित् सा ककारात् पुरतो विक्षिप्यते । पराङ्ङ्ऽपि ककारे पूर्वाक्षरवलाक्रमणे न पूर्वसन्निकर्षातिशयोपपत्ते । परबलशैथिल्यात्तु-कस्य पराङ्गत्व व्याहन्यते । तेन सऽक्रतुरितिवक्तव्ये सक्ऽरतुरित्युच्चार । अथ बलद्वयविप्रतिषेधे कस्य द्वित्वमिति कद्वयान्तराले सा विरतिर्निक्षिप्यते । सक्ऽक्रतुरिति । नक्तमित्यादौ पदविरत्यभावेऽप्यक्षरद्वयान्तरालविरत्या त्रैविध्यमुपपद्यते—न-क्तम् । नक्-तम् नक्-क्तमिति । अथानुनासिकपरत्वे तच्छायापत्या विरतेरस्या नासिक्यत्व प्रसज्यते । तस्याश्च यमसज्ञा । अत्र पक्षे यम शरीरशून्यो विच्छेदात्मा ।

जकारो द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित ॥

अशरीर यम विद्यात् सम।ज्मींति निदर्शनम् ॥१॥ इति

अमोघनन्दिनीशिक्षोक्ते:॥ "अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमेषु विच्छेदम्" (१३६) इति प्रातिशाख्यसूत्र व्याचक्षाणे **प्रदीपे विच्छेद इति यमसज्ञा** इत्युक्तेश्च । स्वरयोर्विच्छेदे विवृतिशब्द । व्यञ्जनयोर्विच्छेदे यमशब्द इति व्यावहारिकसमय । हरऽएहीति विवृति । पलिक्ऽक्नीति यम । यमस्य विच्छेदमात्रत्वेऽपि पूर्वव्यजनचातुर्विध्यनिवन्धन चतुष्ट्वमुपचर्यते । इत्यन्या प्रतिपत्ति ॥२॥

३ अन्ये त्वाहु । **सयोगविभागशब्देभ्य** शब्दोत्पत्तिरिति भगवान् कणाद प्राह । दृश्यते च—ऊर्क्-क्, हरित्-त्, फट्-ट् इत्यादौ

व्यञ्जनान्तपदविरामे पदान्तव्यञ्जनोच्चारणार्थं वेगात् क्रियमाणे स्थान-करणसयोगे सयोगजो वर्ण सद्य प्रतिभासते। अथ शैथिल्येन तत्सयो-गोपरमे वर्णान्तरानुत्पत्तावपि सद्यस्नरसा तत्सयोगप्रत्याकर्षे विभागजस्तत्र पूर्वसदृशो वर्ण प्रादुर्भवति। पदविरामवत् पदमध्येऽ-पि सयोगादेर्विच्छिद्योच्चारणे सयोगजवर्णोत्तर स विभागजो वर्ण सभवति । एष एव तु सोष्मरहवर्जं सवत्र वर्णद्वित्वहेतुर्द्रष्टव्य । स विभागज एवानुनासिकपरत्वे तत्प्रयत्नाकृष्टतया नासिक्यता प्राप्तो यम उच्यते । पलिक्-क्नीति । सक्थ्-थ्नेत्यादौ ककारादप्यग्रे थकारे विराम इति तस्यैव विभागजत्वे यमसज्ञा ॥

द्विरुक्तिं वर्जयेन्नित्य यमेऽपि परत स्थिते ॥
सक्थ्ना देदिश्यते नारी ककारोऽत्रैक एव हि ॥१॥ इति

वर्णरत्नप्रदीपिकाया कद्वित्वनिषेधात् ॥ "सर्वेषा व्यञ्जनाना द्विर्भावो-भवति द्वादशवर्जम्" । ते ख छ ठ थ फा घ झ ढ ध भा रहौ चेति–" गौतमसूत्रमते तु––थ-घटकस्य तस्य द्विरुक्तिरिति विशेष ॥ "प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्था" ॥१३६॥ इति कात्यायनप्रातिशाख्य-सूत्रे तथोक्ते । तदित्थ विंशतिर्यमा ॥३॥

॥ इत्यन्या प्रतिपत्ति ॥३॥

अपरे त्वाहु —न विंशतिर्यमा किन्तु क ख ग घ सदृशध्वनयो नासिक्याश्चत्वार एव यमा कु खु गु घु सज्ञा । आतनच्मीत्यत्रा-तनच्क्मीति । समार्ज्मीत्यत्र समार्ज्-ग्मीति । आट्णोत्यत्र आट् क्णोति । रत्नमित्यत्र रत्-क्नमिति । सक्थ्नेत्यत्र सक्थ्-ख्नेति । विघ्न इत्यत्र विद्-ग्म इति । दध्म इत्यत्र दध्-घ्म इति । पाप्मेत्यत्र पाप्-क्मेत्यु-च्चारणात् ॥ एतदुक्त पाणिनीयशिक्षाभाष्ये शिक्षाप्रकाशे "अन्तर्वत्क्नीति तकारयमककारनकारेकारा ॥ यञ्ज इत्यत्र जकार-पूर्ववर्ण-वर्गसख्य-सवर्णयमगकार-ञकारा इति ॥ शिक्षाभाष्यानुमत्यैतदुच्चारणमाख्यातम् । वस्तुतस्तु कुकार-गुकारयो कवर्ग्यतया तत्स्थानचवर्ग्यस्थानयोरानन्तर्यात् पूर्वप्रयत्नापकर्षेण यमे प्रत्यये चवर्ग्य कवर्ग्यत्वमापद्यते। उक्त च भगवता

पाणिनिना—"चो कुभ्रलि पदान्ते चेति"॥ तेन ग्रातनच्च्मीतिवक्तव्ये कुकारादातनच्क्मीति, ककारयमककारमकारा । समाग्मींत्यत्र गुकारात् समाग्ग्मींति, गकारयमगकारमकारा । यज्ज इत्यत्र गुकारात् यग्ग्ज इति । विज्जानमित्यत्र च विग्ग्ज्ञानमिति गकारयमगकारञकारा ॥ इतीत्थमेव सर्वत्रोच्चारण सप्रदायसिद्धमवकल्पते ॥

ज्ञानमित्यत्रापि मध्ये गुकारो नियम्यते । (१) ' **अनन्त्यान्त्यसयोगे मध्ये यम पूर्वगुण** "—इत्यौदव्रजिसूत्रात् ॥१॥

(२) **अनन्त्यान्त्यसयोगेऽनन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न सशय** ।" इति गौतमसूत्राच्च ॥२॥

(३) अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि ॥
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्ण पूर्ववर्णयो । इति नारदोक्तेश्च ।

(४) अपञ्चमैश्चैकपदे सयुक्त पञ्चमाक्षरम् ॥
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वाक्षरस्य हि ॥४॥

(५) पञ्चमा शपसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि सयुता ॥
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवा ॥५॥
इतियाज्ञवल्योक्तेश्च

(६) स्पर्शानामुत्तमै स्पर्शै सयोगाश्वेदनुक्रमात् ॥
आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥६॥

इति मण्डूकोक्तेश्च ॥६॥ तस्य गुकारस्य झल्त्वाज्जकारो गत्वमापद्यते । तेन ज्ञानमिति गकारगुकारञकारा इति उच्चारणसप्रदायो वैदिकानुमोदितो लोकेऽपि प्रयुज्यते । घृवातोर्वैदिकस्य घृतादिष्ठ लोकेऽपि प्रयोगवत् ॥ यत्तु ज्ञान विज्ञानमित्यादावेक एव गकार प्रतिभाति न तु गुकार पृथक् प्रतीयते । अप्रतीतश्च नास्तीति शक्य वक्तुमिति कश्चिद् ब्रूयात् । तन्न । पूर्वस्पर्शयमयो सयोगस्यायस्पिण्डतया घनबन्धात् पार्थक्येनाप्रतीतावपि प्रकृतिसिद्धार्थस्यापलापानर्हत्वात् ।

त्रिविधो हि पिण्ड स्मर्य्यते भगवता गौतमेन—

त्रिविध सयोगपिण्डो भवति—अयस्पिण्डो दारुपिण्डस्तथोर्णापिण्डश्चेति । यमसहितमयपस्पिण्डम् । दारुपिण्डमन्त स्थैर्युक्तम् । यमान्त स्थवर्ज तूर्णापिण्डमिति ॥

अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।

"अशरीर यम विद्यादन्त स्थ पिण्डनायक" इति

अशरीरत्व पूर्वस्पर्शशरीरान्त प्रविष्टत्वम्, अत एव च पूर्वस्पर्शयमयोर्म्मध्ये विच्छेदो नोपलभ्यते ॥ तस्मात् पार्थक्येनाप्रतीतिरिति बोध्यम् ॥ इति प्रासङ्गिको यमविचार ॥*॥

इति मधुसूदन--विद्यावाचस्पति--प्रणीते
पथ्यास्वस्तिग्रन्थे यमपरिष्कारो द्वितीय प्रपाठ
समाप्त ॥२॥

तृतोये गुणानुवाके सप्तमखण्डे वाक्चातुर्विध्यखण्ड प्रथम. ॥१॥

॥ अथ गुणपरिष्कारस्तृतीयः प्रपाठ. ॥

धर्म्मादभ्युदय सदाऽभ्युदयते धर्मस्तु साहित्यतो
विज्ञेयोऽप्यविनाकृत तदपि वा वाक्यश्च वाक्य पुन ॥
सपद्येत पदै पद पुनरिद वर्णै कृत वर्ण्यते
ते वर्णाश्च गुणै कृता इति गुणान् वर्णहितान् ब्रूमहे ॥११

(१) येय वाग्वदति सा चतुर्विधा विज्ञायते । तथाच श्रूयते—
"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण " ॥
"गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति"॥१इति॥

वाचा परिच्छिन्नानि तावच्चत्वारि स्थानानि भवन्ति—वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्यमैन्द्र भौम चेति । स्थानभेदाद्वाचश्चतुर्विधा उपपद्यन्ते- वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता, आम्भृणी चेति । स्वायम्भुवमण्डले परमाकाशे वेकुरा वाक् ॥१॥ पारमेष्ठ्यमण्डले महासमुद्रे सुब्रह्मण्या वाक् ॥२॥ सौरमण्डले महाब्रह्माण्डे गौरिवीता वाक्॥३॥ पार्थिवमण्डले भौमाण्डे चान्द्रमण्डलोपेते सोममयी आम्भृणी वाक् ॥४॥ ता एता वाच-स्तत्तल्लोकस्थिताना सर्वेषा भावानामुपादानभूता इष्यन्ते । तत्रेयमा-म्भृणी वागस्या भूमौ सर्वत्राभिव्याप्ता । तामेव वाचमिमे मनुष्या उपजीवन्ति । इतरास्तु तिस्रो वाचो गुहाया निहिता । तदुक्तमृषिणा—
वृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत् प्रैरत नामधेय दधाना ॥
यदेषा श्रेष्ठ यदरिप्रमासोत् प्रेणा तदेषा, निहित गुहावि "॥इति॥
ऋक्सामयजुरात्मिका वैदिकी होय वाक् सर्वेषामाविरेव सती गुहाया निहिता न सम्यक्तया परिज्ञायते इत्यर्थ । ता ह्येताश्चतस्रो वाचो ब्रह्मविज्ञाने सुविशद व्याख्याता द्रष्टव्या ॥१॥ अपि चान्यथा ब्रूम —

(२) वाजस्य हि प्रसवो वागिय श्रूयते । यथोक्त मैत्रायणीयश्रुतौ—

"वागृधि वाजस्य प्रसव । सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि । पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्या, साग्नौ, सा रथन्तरे ॥१॥ यान्तरिक्षे, सा वाते, सा वामदेव्ये ॥२॥ या दिवि सा बृहति, सा स्तनयित्नौ ॥३॥ अथ पशुषु ॥४॥ ततो या वागत्यरिच्यत ता ब्राह्मणे न्यदधु । तस्माद्—ब्राह्मण उभयी वाच वदति—यश्च वेद, यश्च न । या बृहद्रथन्तरयो —यज्ञादेन (वाज) तया गच्छति ॥ या पशुषु तया ऋते यज्ञम् ॥

वाजस्येम प्रसव सुषुवेऽग्रे सोम राजानमोषधीष्वप्सु ॥
स विराज पर्य्येतु प्रजानन् प्रजा पुष्टि वर्धयमानो अस्मे ॥१॥
वाजस्येमा प्रसव शिश्रिये दिव स ओषधी समनक्तु घृतेन ॥
वाजस्येद प्रसव आवभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वत ॥२॥
मैत्रि ब्रा १।११४–५) इति ॥

अत्रेय त्रिलोकीवाग् गुहानिहितेव नेङ्गयते, पशुवागियमनुभूयते इति विद्यात् ॥२॥ अपि चान्यथा ब्रूम —

(३) अमृता, दिव्या, वायव्या, ऐन्द्री चेति सा चतुर्धा वाक् । तत्र मन प्राणगर्भिता मत्या वागमृता । वेदा हि ऋक्सामयजूंष्यमृता वाक् । तत सर्वमिद प्रजायते, तत्र प्रतितिष्ठन्ति, तत्र सतिष्ठते । सेय वागाकाशो नाम । अग्निरस्या ब्रह्म । अग्निरस्या उपनिषत् । तस्मादियमाग्नेयी । सेय मन्त्रे श्रूयते—

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ॥
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥१॥(१।१६४।४१)

अथ दिव्या वागृता, सोऽथर्ववेद । तन्मयान्येवैतानि सर्वाणि दैवतानि भूतानि चोत्पद्यन्ते—

इय या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसशिता ॥
येनैव ससृजे घोर तेनैव शान्तिरस्तु न ॥ ॥ (१६।६।३)

इत्यथर्वसहितोक्त ॥

सेय वाक् सरस्वान्नाम । दिक्सोमोऽस्या ब्रह्म । दिक्सोमोऽस्या उपनिषत् । तस्मादिय सौम्या । सेयमपि श्रूयते—

'तस्या समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ॥
तत क्षरत्यक्षर तद्विश्वमुपजीवति ॥२॥ (१।१६४।४२)
वागक्षर प्रथमजा ऋतस्य वेदाना माताऽमृतस्य नाभि ॥
सा नो जुषाणो यज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥इति॥

अनयोर्ध्वनिर्नास्ति । तस्मान्न ते श्रोत्रेण गृह्येते । ध्वनि शब्द । ध्वन्य-भावात्तु नैते वाचौ शब्दौ भवत ।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् मस्थाश्च निर्म्ममे ।" इति मनुस्मृति-वाक्ये शब्दपदमौपचारिक बोध्यम् । अशब्दात्मिकाया एव त्वमृताया वेदवाच सृष्टिहेतुत्वसिद्धान्तात् ॥

श्रोत्रग्राह्यो ध्वनिर्द्विविध । शक्त्यभावादनर्थक प्रथम । वर्णपद-वाक्यादिविभाजित सार्थको द्वितीय । उक्त च—

ध्वनिर्वर्ण पद वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ॥
यस्या सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥१॥इति

तत्रानर्थिकाया वाचो वायुर्ब्रह्म । वायुरुपनिषत् । तस्मादिय वायव्या । गतिविहीनापीय वाग् वाय्वारब्धा वायुप्रतिष्ठा वायु-नैवेतस्ततो नीयते । नादश्वासादयश्च तस्या विशेषा वायुनैवोपपद्यन्ते । सेय सरस्वती नाम तृतीया वाक् विश्वोपजीवनी भवति । सापि प्रथमाद्वितीयावदव्याकृतैवासीत् । अर्थनिबन्धनस्य वर्णादि-विभागस्य तत्राहष्टत्वात् । तस्या चेन्द्रोऽनुप्रविश्य विभक्तिभिस्तां विविधैराकारैर्व्याकरोति तेनेयमैन्द्री व्याकृता वाग् भवति । तथाच श्रूयते—

"वाग् व पराच्यव्याकृताऽवदत् तद् देवा इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाच व्याकुरु इति । सोऽब्रवीद्-वर वृणे—मह्य चैवैष वायवे च

सह गृह्याता इति । तस्मादैन्द्रवायव सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत् । तस्यादिय व्याकृता वागुद्यते" इति । सोऽयमर्थो मन्त्रसहितायामप्याम्नायते—

"बीभत्सूना सयुज हसमाहुरपा दिव्याना स——द्रन्तम् ॥
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाण मन्द्र निचिक्यु कवयो मनीषा" ॥
(१० । १२४ । ६) इति ।

एष मन्त्रोऽक्षरप्रकरणे व्याख्यास्यते । सा हीन्द्रेण व्याकृतैवेय वागुपयुज्यते सर्वेभ्यो व्यवहारेभ्यो वैदिकेभ्यश्च लौकिकेभ्यश्च । तथा च श्रूयते मन्त्र —

"वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ॥
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी ॥१॥

इत्थ चैताश्चतुर्विधा वाचो व्याख्याता । तत्रैता पूर्वास्तिस्रोऽर्थविज्ञानाननुकूलत्वाद् गुहा निहिता नेङ्गयन्ति न कञ्चिदर्थ सकेतयन्ति ॥ अथ या पुनरिमा वाच मनुष्या ब्रुवते, यस्या वाच्यकारककारादयो वर्णा व्याकृता सविभक्ता प्रज्ञाता दृश्यन्ते । सेय चतुर्थी व्याकृता वागैन्द्री नाम प्रतिपत्तव्या । इन्द्र. प्रज्ञाप्राण । प्रज्ञानयोगात्तु वाचो विभज्यमाना वर्णा भवन्ति । अ उ इति मन - प्राणयो सज्ञे वैज्ञानिकानाम् । तत्र मन प्रज्ञानमृण प्राणो ध्वनिरर्ण । अपि वा प्राण च प्रज्ञान चागतो ध्वनिर्वर्ण ॥ वर्णा एवामी अर्णा इत्युच्यन्ते । प्रज्ञाप्राणयोर्नान्तरीयकतया प्रज्ञयैव प्राणस्यापि सग्रहीतु शक्यत्वात् ॥ यास्तु वाचोऽनाहतनादे (१), याश्च वाचो वाय्वग्निजलपार्थिवानाम् (२), या वा वाच पशुपक्षिसरीसृपाणाम् (३)। या वा वाच सद्योजाताशिक्षितशिशुरोदनादिषु ता सर्वा इन्द्रेण अव्याकृतत्वादनिरुक्ता केवलवायव्या इष्यन्ते ॥ मनुष्याणामेव तु वागर्थगर्भितत्वान्निरुक्त प्रज्ञातमुच्यते । तस्मादयमैन्द्रवायवो ग्रहो भवति ॥४॥

(४) सेयमैन्द्री वागध्यात्म चतुर्धा विधीयते। तथा च मन्त्र श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ॥
गुहा त्रीणि [illegible] नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति॥१॥इति

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इत्येता हि ता अध्यात्म चतुर्धा वाच ।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते ॥
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते ॥१॥

इत्याप्तोक्तेर्बुद्धिस्था वाक् परा । मनसा ग्रन्थाक्षरानाकलयता-मुपांशु वाक् पश्यन्ती । विनैव नादध्वनिं श्वासमात्रेण कर्णमनुच्चार्य-माणा वाग् मध्यमा ।

नादध्वनिशालिनी दूरतोऽपि श्रोत्रग्राह्या वैखरी ॥ तासु परा-पश्यन्तीमध्यमा प्रच्छन्ना न विशिष्यावगम्यन्ते ॥ वैखरी तु मनुष्या ब्रुवते । उक्त चाभियुक्तै —

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ॥
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥१॥ इति ॥४॥

(५) सेय वैखरी पुनरध्यात्म चतुर्धा विधीयते तथा च श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदति ॥१॥इति
तमेत मन्त्र वाजसनेयश्रुतिरित्थ व्याचष्टे—

"इन्द्रो ह वा ईक्षाचक्रे-'वायुर्वेनोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग्। हन्तास्मि-न्नपि त्वमिच्छा" इति । स होवाच वायवा मास्मिन् ग्रहे भजेति । कि तत स्यादिति । निरुक्तमेव वाग् वदेदिति । निरुक्त चेद् वाग् वदेत् आ त्वा भजामीति । तत एष ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवत् ।

तदेतत् तुरीय वाचो निरुक्त यन्मनुष्या वदन्ति । अथैतत् तुरीय वाचोऽनिरुक्त यत् पशवो वदन्ति। अथैतत् तुरीय वाचोऽनिरुक्त यद्वयासि वदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्त यदिद क्षुद्र सरीसृप वदति ॥ इति ।

न केवलमध्यात्म, किन्तु यदधिभूत, यदधिदैवत वा वाक् तत्राप्येते चत्वारो विभागा द्रष्टव्या । परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति ॥

(६) सेय या वैखरी वाग् मनुष्येण व्याह्रियते तत्रापीय श्रुतिर्भवति

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१॥इति।

प्राण स्वर, वर्ण, ध्वनि —इत्येव तावमनुष्यवाचश्चत्वारि पदानि । तथा हि—

आत्मा बुद्धचा समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥
मन. कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।
सोदीर्णो मूर्द्धन्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते तेषा विभाग पञ्चधा स्मृत ॥

इति शिक्षास्मृत्युक्तमार्गेण नाभ्युत्थितो वायु स्वरात्मतासिद्धे प्राक् प्राणो नामाभिसधेय । अथ स एवैतन्मुखागमनात् प्राक् उर कण्ठशिर-स्थान स्वर । स पुन पञ्चरूपै पञ्चाशद्रूपैश्चतु षष्टिरूपैरपि वा व्याक्रियमाणो वर्ण । स पुन षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाख्यै सप्तभि स्वरैर्विभेदित श्रुत्या गृहीतो ध्वनिर्नाम जायते। तत्र प्राणोऽयमेकस्तरमात्रा वाक् । अथान्यवाक्स्तरयोगाद् द्विस्तरा स्वरवाक् । तत्रान्यवाक्स्तरयोगात् त्रिस्तरा वर्णवाक् । तत्र पुनरन्यवाक्स्तरयोगाच्चतुस्तरा ध्वनिवाक् । नानपेक्ष्य पूर्वामुत्तरारूप धत्ते ॥

अत्राहा शङ्करो भाष्यकार । क पुनरय ध्वनिर्नाम । यो दूरादाक-

र्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च मन्दत्वपटुत्वादिभेद वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धना। वर्णाना प्रत्युच्चारण प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ॥१॥

अथैते वर्णा ध्वनिसहकारेण च कृतरूपा भवन्ति ध्वनिमन्तरेण च। यौ तावत् कर्णे प्रत्यासीदन्तौ रहस्यमुपजल्पतस्तयोर्भाषाया वर्णा उपांशुकृतत्वाद् ध्वनिविनाकृता अपि लक्ष्यन्ते। उच्चै कृतायामेव ध्वने सचारात् ॥२॥

अथ यदाहु —"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना वह्वी नानारूपा भवतीति"(ऐ आ) तत्रैव स्पर्शोष्मयोगप्रतियोगिनी वाक् स्वरो नाम। एष एव स्वरो लघुत्वगुरुत्वाभ्या द्वेधा प्रतिपद्यमानोऽक्षरो नाम कथ्यते ॥३॥

अथ य पुनरेते शाब्दिका स्फोट प्रतिपद्यन्ते स प्राणो वर्णाना मूलाधारो द्रष्टव्य। तदवच्छेदादिमे वर्णा परस्परतो नोपसृज्यन्ते ॥४॥

अथ पुनर्देवताभिश्चैता वाचो विभक्ता द्रष्टव्या। ध्वनिरयमग्नीषोमीया वागाग्नेयी गायत्रीछन्दा इष्यते। वर्णात्मिका तु वाग् वायव्या अनुष्टुप्छदा भवति। "वाचमष्टापदीमहमिति श्रुते" ब्रह्म वै गायत्री *वागनुष्टुप् इति श्रुतेश्च"—॥अष्टौ हि बिन्दवस्तस्या व्याप्तिस्थानमित्यनु*ष्टुप्त्वमुपपद्यते। या पुन स्वरवाक् तामैन्द्री बृहतीछन्दसमाहु। "वागिन्द्र" इति हि श्रुतिरेतामैवैन्द्री वाचमभिप्रैति। इयमेवेन्द्रपत्नीति श्रूयते। तस्या नव बिन्दवो व्याप्तिस्थानमिति बृहतीछन्दस्त्वमाहु ॥ प्राणस्त्वय स्फोटोऽव्ययभक्तिर्वाक्। स हि कोश सर्वासा वाचामिष्यते। तदित्थमेषा चतुष्टयी वाक् सहितोपचर्य्यते। तस्यास्तुरीयमेव पदमेत ध्वनिमद्धा शृण्वन्ति ॥

अथैषा चतुष्टयी वाक् पुनरन्यथा चातुर्विध्य भजते। तद्यथा वर्ण, अक्षर, पद, वाक्यम्—इति हि मनुष्यवाचश्चत्वारो विभागा भवन्ति।

इदमेवैतस्या वाचश्चातुर्विध्यमिन्द्रेण कृत व्याकरणमाम्नायते। तत्र वाक्यानि पद, पदान्यक्षरं, अक्षराणि वर्णं कृतरूपाणि भवन्तीत्यतस्तानि वर्णाक्षरपदानि त्रीण्यन्तरत प्रवेशक्रमाद् गुहानिहितानि न स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध जनयन्ति। वाक्यस्यैवार्थबोधने सामर्थ्यलाभान्। तस्मादर्थं प्रत्याययितु वाक्यानि मनुष्या ब्रुवते ॥६॥

(७) अथ वर्णोऽक्षर, पद, वाक्यमित्येतेषामपि चतुर्णां प्रत्येकस्य पुनश्चातुर्विध्यमिच्छन्ति। तत्र तावद्वर्णश्चतुर्धा—अस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, स्पृष्ट, अर्द्धस्पृष्ट इति भेदात् ॥१॥ अक्षर चतुर्धा पूर्वापरोभयविधव्यापारशून्य प्रथमम्—अ इति ॥ पृष्ठव्यापार-विशिष्ट, पुरतो व्यापारशून्य द्वितीयम्—स्म इति ॥ पृष्ठव्यापार-शून्य, पुरतो व्यापारविशिष्ट तृतीयम्—उक्—इति ॥ उभयतो व्यापारविशिष्ट चतुर्थम्—वागिति ॥२॥

अथ पद चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदादिति भगवान् पतञ्जलि ॥ परे त्वाहु। नोपसर्ग पृथक् पदम्। उपसर्गविशिष्ट-स्याख्यातत्वात्, तस्य तत्रैवान्तर्भावात्। येषु तु—"इन्द्रो देवान् प्रतिप्रति।" "अतीनि ह कर्म्माणि सन्ति। यान्यन्यत् कर्म्माणि, तान्यतीनि" इदानीनि, एतर्हीणि ॥ इत्यादिषु विभक्तय प्रयुक्ता दृश्यन्ते तेषा नामत्वमेवोपपद्यते ॥

तस्मान्नामाख्यातनिपातेभ्योऽतिरिक्ताना विभक्त्यर्थगर्भितत्वाद् विभक्त्ययोग्याना स्वरादिशब्दानां चतुर्थत्व द्रष्टव्यम्। नैतानि नामानि। विभक्त्यर्थागर्भिततया विभक्तियोगिनामेव नामत्वेन विवक्षितत्वात् ॥३॥ अथार्थवैशिष्ट्यात् प्रज्ञानोपपन्ना वाग् वाक्यम् ॥ तच्चतुर्धा—नाभिस्थान, प्रक्रमत्रयस्थान, मुखप्रदेशपञ्चकस्थान, श्रोत्रस्थान चेति ॥ प्रज्ञानप्रेरिता सती नाभेरारभ्य परश्रोत्रमागता परस्मै प्रज्ञान जनयतीति चतुर्षु पदेषूपस्थाय विलीयते ॥ ॥

(६) वाक्यमेवेद महदुक्थप्रकारेण पुनश्चतुष्पदमैतरेयारण्यके श्रूयते। मितममितं स्वरः सत्यानृते इति। ऋग् गाथा कुम्ब्या तन्मितम् ॥१॥ यजुर्निगदो वृथा वाक् तदमितम् ॥२॥ सामाथो य कश्च गेष्ण स स्वर ॥३॥ ओमिति सत्य नेत्यनृतम्" इति ॥४॥ सत्यानृतयो पृथक्त्वाभिप्रायेण पञ्चविधत्वमपीच्छन्ति ॥५॥

यत्तु यास्कनिरुक्ते—"तस्माद् ब्राह्मणा उभयी वाच वदन्ति या च मनुष्याणाम्"—(१३।१) इति वाचो द्वैविध्यमाख्यात तद्वेदभाषा-सम्स्कृतभाषाभेदाभिप्राय द्रष्टव्यम्। छन्दोभाषाया स्वर्गभाषात्वसिद्धान्तात् ॥

एषा च वाक्याना पदानामक्षराणा च वर्णा एवारम्भका सन्तीति सर्वमूलत्वादादौ वर्णा शिक्षयितव्या ॥ ते च वर्णा सप्तनवति-विधाश्छन्दोभाषाया दृश्यन्ते—इत्येतेषामेष समाम्नायस्तावत् प्रदर्शित ॥

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

(१)

अथ ब्रूम । अक्षराणामकारोऽस्मीति स्मरणादकार एवैको वर्ण सर्वेषामेषा वर्णाना प्रतिपत्। अकारादेवैकस्मादक्षरादयमेतावान् वर्णसमाम्नायोऽन्यान्यगुणयोगेनोत्पद्यते। तथा चाह भगवानैतरेय—

" यो वै ता वाच वेद यस्या एष विकार स सप्रतिवित् ॥ अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति ॥ (ऐ० आ० २।३।६) इति ॥

अत्र श्रुतौ स्पर्शोष्मशब्दौ स्थानकरणयोरन्योन्य सन्निकर्षतारतम्य विप्रकर्षतारतम्य च यथायथ लक्षयत। ते च स्थानकरणे द्विविधे बहिरङ्गे चान्तरङ्गे च। मुखप्रवेशात् प्राग्भाविनी बहिरङ्गे।

तत्र स्थान प्रक्रमशब्देन, करणप्रयत्नस्त्वनुप्रदानशब्देनाख्यायते । मुखाभ्यन्तरतस्तु ते अन्तरङ्गे भवत । उभयत्र प्रयत्नविशेषात् स्थानकरणयोराकुञ्चनसप्रमारणे वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्तये भवत ॥ अथ स्पर्शोष्मशब्देन स्वरद्वयसश्लेपविश्लेषावपि लक्ष्येते । तेन स्वराणा विश्लिष्टोच्चारणे एकमात्राकाल । सश्लिष्टोच्चारणे तु द्विमात्रस्त्रिमात्रो वा काल ॥

स्वराणामवयवसकोचेन घनीभावे व्यञ्जनत्वोपपत्ति । तत्रैतेपामर्द्धमात्रा काल । तदित्थ पञ्चैते गुणा एकस्याकारस्यानेकाकारतासपादकतया वर्णसमाम्नायोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । तानेवैतान् पञ्चगुणानुपदर्शयितुमेत वर्णसमाम्नाय प्रक्रमस्थानत., कालत, करणप्रयत्नत अनुप्रदानप्रयत्नतश्च व्याख्यास्याम ॥

तत्रादौ प्रक्रमस्थानतो वर्णभेदः प्रदर्श्यते ॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति।१।१६४।४५

इति भगवान् वेदमहर्षि प्राह । तथाहि—**प्राणवायुर्वाग्भावाय प्रक्रममाणश्चत्वारि प्रक्रमपदान्यपेक्षते । नाभिम्, उर, शिर, आस्यचे ति । नाभिर्हि प्राणवायो प्रथम पदम् । तत प्रक्रम्य स उरसि, कण्ठे, शिरसि वा प्रत्याहन्यमान** प्रथम प्रक्रम समाप्नोति । उरसि कण्ठे वा प्रथमप्रक्रमपूर्तौ तत प्रक्रम्य शिरसि प्रत्याहन्यमानो द्वितीय समाप्नोति । शिरपदात्प्रक्रम्य स मुखे स्थानेष्वाहन्यमानस्तृतीय समाप्नोति । आस्यपदात् पुनश्चतुर्थे प्रक्रमे वर्णभावेन परिणममानो मुखान्निसरति ॥

तथा चाह भगवान् पाणिनि —

आत्मा बुद्धया समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मन. कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।
कण्ठे तु मध्यम शीर्षिण तार जनयति स्वरम् ॥२॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते तेषा विभाग पञ्चधा स्मृत ॥३॥
स्वरत कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत ।
इति वर्णविद प्राहुर्निपुण त निबोधत ॥४॥(इति)

तत्र नाभ्युर शिरासि त्रीणि पदानि गुहाया निहितानि नाद्धा प्रतीयन्ते । मुख तु वर्णानामुच्चारणायोपयुक्त भाति । (१) नाभौ प्राणस्य वायुभाव । (२) उरसि वायो स्वरभाव । (३) शिरसि स्वरस्य ध्वनिभाव । (४) अथ मुखे ध्वनेर्वर्णभाव । तेनादित-स्त्रिषु पदेषु वाच प्रागूरूपस्य प्राणवायोर्नास्ति वर्णत्वेनाभिव्यक्ति । तुरीये त्वेव पदे वाचोऽद्धाभिव्यक्तिरिति प्रतीतिगम्योऽर्थ श्रुत्याभिधीयते।

प्रथम प्रक्रमसस्थानानामुर , कण्ठ , शिर इत्येव त्रैविध्यमास्यातम् । तच्चेद बलतारतम्यादुपपद्यते । उच्चिचारयिषया प्रयुक्त प्राणवायु कनीयसा बलेन प्रक्रममाण सन्नुरसि, सप्रतिबलेन कण्ठे, भूयसा तु बलेन शिरसि पतन् प्रक्रम समाप्नोति । तेन यत्र शिरस्येवास्य प्रथमप्रक्रमपूर्ति-स्तत्र त्रीण्येव प्रक्रमपदान्युपपद्यन्ते—इत्यन्यत् । आस्याद् बाह्याना-ममीषा प्रक्रमस्थानाना सवनत्वमाह नारद —

उर कण्ठ शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये ॥
सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे ॥१॥इति

एभिरेव त्रिभि सवनैस्त्रैस्वर्यमुपपद्यते। तथाहि—नाभेरभ्युत्थितो वायु करणभूतो यद्युर स्थाने निपत्योत्पतित क्रमेण मुखमागत्य वर्ण-भावे परिणमते तर्हि तस्यैष प्रक्रम प्रात सवनम् । तत्रैष मन्द्र स्वर सपद्यते । स औरस्योऽनुदात्त ॥१॥ यदि तु कण्ठे निपत्योत्पतितो मुख-मागत स्यात् तर्हि मध्यन्दिनसवनम् । स मध्यम स्वर । स कर्णमूलीय स्वरित ॥२॥ यदि वा शिरोऽन्त एवास्य प्रथम प्रक्रम स्यात्

तर्हि तृतीयसवनम् ॥३॥ स तारस्वर । स शार्पण्युदात्त । प्रातर्मन्द्रया वाचा प्रक्रमेत, मन्ध्यन्दिने मध्यमया । तृतीयसवने तारयेत्याह भगवानैतरेय ।

यदा वा एष प्रातरुदेति—अथ मन्द्र तपति ।
तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रात सवने शसेत् ॥१॥
अथ यदाऽभ्येति—अथ बलीयस्तपति ।
तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शसेत् ॥२॥
अथ यदाऽभितरामेति—अथ बलिष्ठतम तपति ।
तस्माद् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शसेत् ॥३॥
यदि वाच ईशीत । वाग्घि शस्त्रम् । यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्योत्सहेत—समापनाय, तया प्रपद्येत । एतत् सुशस्ततममिव भवति ॥ इति (ऐ ब्रा १४ प्र ४४ क)

पाणिनिरप्याह—

प्रात पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसकूजितसन्निभेन ॥१॥
तार तु विद्यात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥
मयूरहसान्यभृतस्वराणा तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥२॥(इति)

विरुद्धसवनेनोच्चारयितॄणामनुदात्तप्रायतायामुर क्षताच्छोणितोद्गार स्वरितप्रायताया स्वरभङ्ग , उदात्तप्रायताया तु मूर्च्छापत्ति ।

अथ यथासवन यथापद च सर्वस्वरोच्चावचभावक्रमेणोच्चारणप्रक्रमे तदुच्चारणसौष्ठव प्रतिभाति । प्रक्रमभेदात् त्रिस्वरभेद । त्रिस्वरभेदाच्चायमकारोऽन्ये च स्वरास्त्रेधा भिद्यन्ते ।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रय । इति ॥

परे तु प्रचयमप्यधिकमिच्छन्ति—
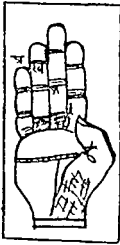
"अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृत ॥
स्वरित कर्णमूलीय सर्वास्ये प्रचय. स्मृत· ॥१॥
उदात्त प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचय मध्यतोऽङ्गुलिम् ॥
कनिष्ठा निहत विद्यात् स्वरित चाप्यनामिकाम् ॥२॥

(इति पाणिन्युक्ते)

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीना प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ॥
उपान्त्यमध्ये स्वरित धृत च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥१॥

इत्यत्र प्रचयानुल्ले खे ऽपि वाक्यान्तरतो मध्यमाया तन्निर्देशलाभात् ॥

(२) उच्चैस्तरा वा वषट्कार इत्यादिपूपदिष्टोऽयमुदात्ततरोऽप्यन्य स्वर । एव (३) सन्नतरोऽप्यन्य स्वर । उदात्ततरवदनुदात्ततरस्यापीष्टत्वात् ॥

अत एवाह भगवान्नारद —

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा ॥
निघातश्चे ति विज्ञेय स्वरभेदस्तु पञ्चधा ॥१॥इति

एकश्रुतिश्चान्य स्वर ।

"एकश्रुति दूरात् सबुद्धौ" "यज्ञकर्मण्यजप न्यूङ्खसामसु"

इत्यादिषु त्रैस्वर्य्यापवादेनैकश्रुतेर्विधानात् । वस्तुतस्तु नैते स्वरास्त्रैस्वर्याद्भिद्यन्ते । तथाहि—उदात्तस्यैव तारतम्येनोच्चारणात् त्रैविध्यमुपपद्यते । उदात्ततरमुदात्त प्रचित चेति । तेन स्वरसूक्ष्मत्वप्रदर्शनानुरोधात् त्रैविध्योपपत्तावपि—उदात्ततरप्रचितयोरुदात्तत्व नोपहन्यते । तथा चाह भगवान्नारद —

य एवोदात्त इत्युक्त स एव स्वरितात् पर ॥
प्रचय प्रोच्यते तज्ज्ञैर्नचात्रान्यत् स्वरान्तरम् ॥१॥

उदात्तस्वरितयोर्मध्यवर्तितया प्रचितस्य यथोदात्तत्व केचिदिच्छन्ति। तथैवान्ये प्रचितस्य तस्य स्वरितेऽन्तर्भाव मन्यन्ते।

यथोक्त याज्ञवल्क्येन—

उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरित' स्वर उच्यते।
ऐक्यं तत्प्रचय प्रोक्त सन्धिरेषा मिथोऽद्भुत १॥ ॥इति।

एकश्रुतिस्तु त्रैस्वर्य्यव्यवस्थापवादो न त्रैस्वर्य्यापवाद। त्रैस्वर्य्यापवादे नैकस्याप्यक्षरस्योच्चारयितुमशक्यत्वात्। तस्मात् त्रय एव स्वरा प्रतिपत्तव्या॥ ये तु साममन्त्रे सप्तस्वरा आख्यायन्ते—षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद इति। तेऽपि न त्रैस्वर्य्यादतिरिच्यन्ते।

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमा ॥१॥

इति पाणिन्यादिभिस्त्रैस्वर्य्ये तदन्तर्भावोक्ते।

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादय स्वरा।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादय स्वरा ॥१॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमा ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यादिभिरभेदाभ्युपगमाच्च। वस्तुतस्तूदात्तादय प्रक्रमोच्चत्वनीचत्वादिनिबन्धना भेदा इष्यन्ते। षड्जादयस्तु स्वरा ध्वनिरागभेदनिबन्धना इति भेद। तथा चाह नारद —

षड्ज वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धार क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ॥१॥

पुष्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम् ।
अश्वस्तु धवत वक्ति निषाद वक्ति कुञ्जर ॥२॥

एषामुच्चारणोपयुक्तस्थानानि नारदशिक्षाया विशिष्य द्रष्टव्यानि । एषा च सप्तस्वरभेदाना गानोपयोगित्वात् साधारणोच्चारणे विशेषतोऽनुपयोगादिह परित्याग । सर्वसाधारण्येन तु त्रय एव स्वरा सिद्धास्तेषा त्रयाणा लिपिभेदाभावेऽपि अनुदात्तस्याधस्तात्तिरश्चीनरेखया (अ॒) स्वरितस्योपरिष्टात्तिरश्चीनरेखया (अ॑) उदात्तस्योपरिष्टाद्दण्डरेखया (अ॑) प्रचयस्य तु स्वरितोदात्तयोगरेखया (अ॑) लिप्यनुगम क्रियते, तदित्थ स्वराणा त्रैविध्यमनुभवगम्य वायुप्रक्रमभेदादुन्नेयम् ॥२॥

अ	स्व	उ	प्र
अ॒	अ॑	अ॑	अ॑

इति द्वितीय खण्ड ॥२॥

मुख्यस्थानतो वर्णभेदः ॥२॥

"संयोगविभागशब्देभ्य शब्द"—इति भगवान् कणाद प्राह । तत्र संयोगे य स्थायीभाव स प्रतियोगी तत्स्थानम् । य संचारीभाव सोऽनुयोगी तत्करणम् । ते च स्थानकरणे द्विविधे बाह्ये आभ्यन्तरे च । वायो प्रक्रमे मुखागमनात् प्राग्भाविनी बाह्ये । मुखप्रदेशान्तर्गते त्वाभ्यन्तरे । तत्र बाह्य स्थानमुर कण्ठ शिर इति त्रिविध व्याख्यातम् ।

अथ मुखे कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठभेदात्पञ्च स्थानानि । कण्ठो जिह्वामूलम् । मुखे दन्तोलूखलस्थानादभ्यन्तरतो दिशि योऽनन्तो भागस्तस्य पूर्वपार्श्वं तालुमूलस्थानम् । तस्यैव पश्चिमपार्श्वं तालुन एव मूर्द्धस्थानम् । ततोऽत्यासन्न पश्चिमो भागो दन्तमूलस्थानम् । उत्तरोष्ठमोष्ठस्थानम् । एष्वेव पञ्चसु स्थानेषु क्रमेण जिह्वासम्बन्धिना मूलमध्योपाग्राग्रभागानामधरोष्ठसहिताना करणास्थाना संयोगतारतम्यात् सर्वे वर्णा उत्पद्यन्ते ।
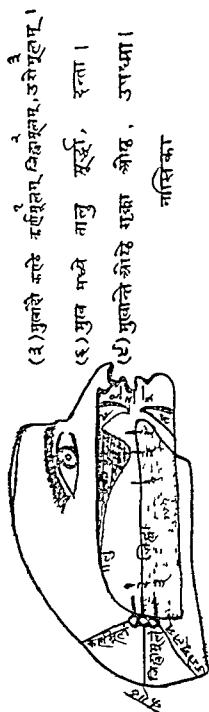
वायुर्यया मात्रया येन प्रक्रमेण प्रक्रान्त कण्ठ-स्थाने वर्णो भवन्न-कारतामापद्यते, तयैव मात्रया तेनैव प्रक्रमेण प्रक्रान्तस्तालुस्थाने उप-नमित स इकारता-मापद्यते । मूर्द्धनि ऋकारता, दन्तमूले लृकारतामोष्ठे तूका-रतामिति विद्यात् । समानस्यैव प्राणद्र-व्यस्य स्थानभेदनिव-न्धना -अ इ ऋ लृ उ इति स्वरूपभेदा सम्भ-वन्ति। तथा चैकस्या-कारस्य स्थानभेदात् पाञ्चविध्यमिदमुन्नेय-म् । तत्र च प्रक्रमभेद-भिन्नानामुदात्तस्वरि-तानुदात्तानामविशेषेण कण्ठादिस्थानसवन्धो दृश्यते । तेनैतेषा पञ्चैव स्थानानि सिध्यन्ति ।
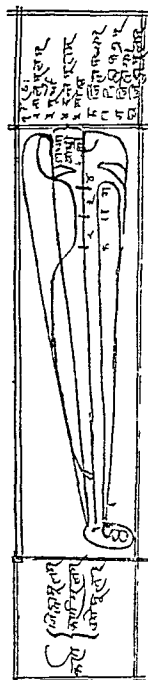
केचित्तु—कृकाटिका, जिह्वामूलम्, कर्णमूलमिति मुखादौ कण्ठे त्रयोभागास्त्रीणि स्थानानि । मुखमध्ये—तालु मूर्द्धा दन्तमूलमिति त्रीणि स्थानानि। मुखान्ते पुन'—सृक्का उपध्मा ओष्ठ चेति त्रीणि स्थानानि।

मर्वमुखानुगता नासानाडी तु नासिका स्थानमिति । एव दशस्थानानि वर्णानामाभ्यन्तराणि मन्यन्ते ॥

	१	२	३		
३	मुखस्याद्ये भागे-उरोमूलम्	जिह्वामूलम्	कर्णमूलम्	स्थानानि	१ कण्ठ
३	मुखस्य मध्ये भागे-तालुमूलम्	मूर्द्धा	दन्तमूलम्	,,	२ तालु ३ मू ४ द
३	मुखस्यान्त्येभागे सृक्का	उपध्मा	ओष्ठम्	,,	५ ओष्ठम्॥
१	मुखस्य सर्वेषु भागेषु-नासिका	नासिका	नासिका	,,	

एषु सृक्कोपध्मयोरोष्ठोपपदयोरोष्ठेनैवोपसग्रह पश्यन् भगवान् पाणिनिस्त्वाह—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा ।
जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥१॥ इति ।

तत्र निरुक्तेभ्य कण्ठतालुशिरोदन्तोष्ठस्थानेभ्यस्त्रीण्यतिरिच्यन्ते, उरो जिह्वामूल नासिका चेति । तत्र—

हकार पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च सयुतम् ।
औरस्य त विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसयुतम् ॥१॥

इत्युक्तरीत्या—ह्ण ह्न ह्म ह्य ह्र ह्ल ह्व षु हकारस्योरस्थानम् । ᳵक ᳵख इति ककारात् खकाराद्वा प्रागुच्चरितस्यार्द्धविसर्गसदृशस्य हकारस्य जिह्वामूल स्थानम् । ते उभे अधरोत्तरे कण्ठस्योपपदे भवत । तथा चैकस्यैव कण्ठस्यावान्तरप्रदेशभेदविवक्षया कृकाटिकामूल-जिह्वामूल-कर्णमूलभेदैस्त्रैविध्येनोपपत्तिरिति कण्ठेनैव तयोरप्युपसग्रहणात् पञ्चैव स्थानानि निष्कृष्यन्ते । नासिकाया अपि कण्ठेन तालुमूर्द्धदन्तैरोष्ठेन च सहोपेतत्वात् पञ्चानामपि मुखस्थानानामुपपदतया पञ्चस्वेव तेषु स्थानेष्वन्तर्भावोपगमात् । तथाचेत्थ पृथक्त्वेनोपगमे दश स्थानानि,

सक्षेपतस्तु पञ्चस्थानानोत्येत्र विवक्षानुरोधान्न्यूनाधिकोपदेशानामविरोधो द्रष्टव्य । नासिकायाश्चेतरैं पञ्चभि स्थानैरविरोधान्मुखनासिकाभ्यामुच्चरिता पञ्चान्ये स्वरा उपपदचन्ते अँ इँ ऋँ लृँ उँ इति । त इमेऽनुनासिका. पञ्च स्वरा । ऋकारे लृकारे च स्वरभक्तेर्नासिक्यतयाऽनुनासिकत्वम् ॥*॥

॥ इति तृतीय खण्ड ॥

कालतो वर्णभेदः ॥३॥

अकारोच्चारणकालो मात्रा । "निमेषकालो मात्रा स्याद्" इत्यौदव्रजि ।

"निमेषकालो मात्रा स्याद् विद्युत्कालेति चापरे" ।

इति नारद । तस्यास्तारतम्यादितरेषा वर्णाना मात्रा नियम्यन्ते । अकारोऽयमकारेण सन्धोयमान परतो योगाद् द्विमात्रो दीर्घो भवति । अकारोऽयमाकारेण सन्धीयमान स्वभावादभिनिहितो भवति । अन्तर्विलीयमानमभिनिधान नाभिद्वयैकत्वम् ।

अधिकवले स्वल्पवलस्य विलयन निसर्ग । तेनैतस्मिन्नाकारे द्विमात्रेऽकारस्य प्रत्यस्तमितत्वाद् द्विमात्रमेवावतिष्ठते न त्रिमात्रत्वम् ।

आकारो यदचकारेण सन्धीयते आकारेण वा तत्रापि नाभिद्वययोगादभिनिहितत्वमिति द्विमात्रत्वमेव, न त्रिमात्रत्व चतुर्मात्रत्व वा । परतो योगमन्तरेण चतुर्मात्रत्वासम्भवात् । प्रयत्नविशेषेण परतो योगापेक्षाया तु त्रिमात्रत्व चतुर्मात्रत्व वा सम्भाव्यते तस्य प्लुतसज्ञा । तथा च मात्रातारतम्यादकारस्य त्रैभाव्यमुपपद्यते । अकार स्वमात्रयोच्चारितो ह्रस्व । द्विगुणमात्रया दीर्घ. । त्रिगुणमात्रया तदधिकमात्रया वा वितानित स प्लुत —इति मात्रात्रैविध्यम् ।

एवमिकारादीनामपि स्वराणा मात्राभेदात् त्रैविध्यमुन्नेयम्। लृकारस्य तु दीर्घभावो नास्तीति तस्य दीर्घा उदात्तस्वरितानुदात्ता हीयन्ते। तदित्थ प्रक्रमभेदात् स्थानभेदान्मात्राभेदाच्चायमकारो द्वाचत्वारिंशद्विधो विशुद्ध सम्पद्यते। तावानेव (४२) चानुनासिक इति चतुरशीतिभेदा स्यु। ६४॥

॥ इति चतुर्थ खण्ड ॥४

आभ्यन्तरप्रयत्नतो वर्णभेद. ॥४॥

मुखाभ्यन्तरत पञ्चसु कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठस्थानेषु सयोगाय करणाना य प्रयत्न स आभ्यन्तरप्रयत्न। स द्विविध स्पृष्टो विवृतश्च।

येन स्थानेषु करणाना स्पर्शतारतम्य घटते स स्पृष्ट।

(१) अ इ ऋ ऌ उ—इत्यस्पृष्टा स्वरा।
(२) ऽ य र ल व—इतीषत्स्पृष्टा अन्त स्था।
(३) अ य ड ळ व—इति दु स्पृष्टा अन्तस्था।
(४) ग ज ड द ब—इति मृदुस्पृष्टा स्पर्शा।

अथ विवरण सम्प्रसारणम्। येन स्थानेषु सयोगकाले करणानि तारतम्याद्विव्रिय ते स विवृत स्पर्शप्रतिद्वन्द्वी धर्म्म।

तेन विवृतप्रयत्ने स्पर्शाभाव। अतएव—अ, इ, ऋ, ऌ, उ—इति पूर्णविवृता स्वरा। अथ यावदेव स्पर्शाय प्रयत्न क्रियते तावदेवाय विवृत प्रयत्नोऽपचीयते। स्पर्शतारतम्याद्विवृततारतम्य घटते इति बोध्यम्।

अथ सम्प्रसारितस्थानकरणानामेवामेकैकस्य यावती मात्रा भवति सा तस्यार्धेनापचीयते। यत्र विवृतार्द्धप्रयत्नेनैषामाकुञ्चन क्रियते तेनार्द्ध-मात्रिकाणि व्यञ्जनानि जायन्ते।

यथा—ऽ य र ल व इत्यर्द्धविवृता अन्तस्था । तत्राऽय प्रथमो वर्णो विवृति । सोऽर्द्धमात्रो वर्ण । अभिनिधान सन्ध्यक्षराण्यु-ष्मान्तस्थगतिश्च तस्य स्थानम् । हरेऽत्र, विष्णोऽत्रेत्यभिनिधानस्थानम् । ए ओ इति सन्ध्यक्षरस्थानम् । इकाराकारयो सन्धौ यथाऽयमिकार परयाऽर्द्ध मात्रया विहीयते । तेनार्द्धमात्राऽवशेषाद् यकारो व्यञ्जन भवति तथैवाकारेकारयो सन्धौ पूर्वोऽयमकार परयार्द्धमात्रया विहीयते । तेनार्द्धमात्रोऽकारोऽवशिष्यते ॥ उक्तञ्च पाणिनिना—

"अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेद्" ।

इति तस्यार्द्धमात्रत्वाद् व्यञ्जनत्वम् । पूर्णास्पृष्टत्वाभावात् स्वरत्वम् । तथा चोभयधर्म्मयोगादन्त स्थत्वमुपपद्यते ॥२॥

अथ तृतीय स्थानमुष्मान्त स्थगति । तद्यथा—सद्य इह, हर इह, विष्ण इहेति । सद्य इहेत्यत्रोष्मा हकारो विसर्गो वा विवृत्यकारोऽर्द्धमात्रो जायते ।

ओभावश्च विवृतिश्च शषसा रेफ एव च ॥
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात् । तस्य व्यञ्जनत्वात् तेन विच्छेदात् स्वरसन्धिर्नास्ति । एव हर इहेत्यादावन्तस्थो विवृतिमापद्यते । तस्य स्वरद्वयमध्यस्था विच्छेद एव रूपम् । शाकल्यस्तु यवयोस्तत्र लोप मन्यते तदसत् । वर्णलोपे स्वरसन्धेरनिवार्यत्वापत्ते । वैयाकरणाप-कल्पित पूर्वत्रासिद्धे सन्ध्यभाववचनन्तु बालशिक्षौपयिक कल्पना-मात्रम् । शास्त्रीयप्रक्रियाविशेषस्य शब्दोच्चारणविशेषाधाने सामर्थ्या-लाभात् । शास्त्रस्य शब्दस्थितिज्ञापकत्वमुपपद्यते न तु तज्जनकत्वम् । अत एव लोपप्रक्रियायामसन्तुष्यन् पाणिनि लोप शाकल्यस्येत्याह । तथा च पाणिनिमते विवृतिवर्णादेशो यवयो स्थाने भवतीति तद्विच्छेदात् सन्ध्यभाव स्वरसतोऽवकल्प्यते इति बोध्यम् ।

एषामन्तःस्थाना मुखनासिकाभ्यामुच्चारणे यँ वँ लँ अनुनासिका स्यु । रेफस्तु नासिक्यो नास्ति । विवृतिश्च नासिक्या न दृश्यते । अ य ङ ळ व—इतीषद्विवृता अन्तस्था । एषु प्रथमो वर्ण सवृतोऽकार । ऐ औ इत्यनयोर्योऽयमकारोच्चारणाभास सोऽप्य सवृतोऽकार ।

"अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत् ।
ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसवृतम् ॥१॥
सवृत मात्रिक ज्ञेय विवृत तु द्विमात्रिकम्" ।

इति पाणिनिस्मरणात् । यत्तु

स्वराणामूष्मणा चैव विवृत करण स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेडौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥१॥

इत्येवमेकारौकारयोर्विवृततरत्वम् । ऐकारौकारयोस्तु विवृततमत्व-मुपदिश्यते तत् सन्ध्यक्षरापेक्षम् । सवृतत्वाख्यान तु तत्प्रदेशापेक्षमित्य-विरोध ।

सवृतान्तःस्थाकारगर्भिणा सन्ध्यक्षराणा स्वरत्व व्याहन्यते इति तु न भ्रमितव्यम् । विवृततरत्वविवृततमत्वाभ्या स्वरत्वोपगमस्या-वक्लृप्तत्वात् । म्लेच्छभाषालिपिविशेषेऽपीदमकारद्वैविध्य दृश्यते । यथा-पारस्यलिपौ विवृताकारमलिपि(।) शब्देन, सवृताकारन्तु "अयन्"(ع) शब्देनोल्लिखन्ति । "अ अ"—इति सूत्रयन् भगवान् पाणिनिश्चेद द्वैविध्यमुपदिशति । तत्र सवृताकारस्यान्तःस्थत्व प्रतिपत्तव्यम् ।

स्वराणामूष्मणा चैव विवृत करण स्मृतम् ॥

इत्येव स्वराणा विवृतत्वेनोपदिष्टत्वात् । ऐ औ इत्यादौ पृथगिवा-कारोच्चारणप्रतिबन्धार्थ तदुच्चारणे प्रयत्नविशेषस्यापेक्षणाच्चैतस्य दु स्पृ-ष्टत्व विद्यात् । ईषत्स्पृष्टपूर्णस्पृष्टयोरन्तरतो मध्यमवृत्त्या स्पर्शसिद्ध्यर्थं प्रयत्नविशेषस्य तत्रापेक्षितत्वादिति बोध्यम् ।

ग ज ड द ब—इत्यविवृता स्पर्शा । यदि त्वेते पञ्चस्पर्शा मुखनासिकाभ्यामुच्यन्ते तर्हि स्थानद्वययोगिनस्ते ङ ञ ण न म इत्येव रूपाणि लभन्ते । शुद्धवन्नासिक्या अप्येते पूर्णस्पृष्टा अविवृता एव स्यु ॥*॥

इति पञ्चम. खण्ड ॥५॥

॥ बाह्यप्रयत्नतो वर्णभेद. ॥

वर्णोपादानभूतो वायुर्वर्णभावात् प्रागवस्थोऽनुप्रदान नाम । मुखा-यतनाद् बहिर्भूतेषु उर कण्ठशिर स्थानेषु मयोगायानुप्रदानाना य प्रयत्न सोऽनुप्रदानप्रयत्नो बाह्यप्रयत्न । स द्विविध सवारो नादो घोष इत्येव त्रिधाकृत प्रथम । विवार· श्वासोऽघोष इत्येव त्रिधाकृतो द्वितीय । यत्रोच्चारणेऽनुप्रदान मृदुविग्रहत्वात् कण्ठनली न विवृणुते स सवार । खरविग्रहत्वात् ता विवृणुते चेत् स विवार ॥

अथ यत्र वर्णस्वरूपारम्भायानुप्रदाने वायोर्भूयसी मात्रा सनिधत्ते कनीयसी तु प्राणस्य तेजस स श्वास । प्राणस्यैव तेजसो भूयसी मात्रा कनीयसी चेद् वायो स नाद ।

यस्मिन् प्रयत्ने दृढाङ्गबन्धादुच्चरितस्य वर्णस्य प्रतिध्वनियोग्यता कनीयसी सपद्यते सोऽघोष । श्लथाङ्गबन्धात् तद्योग्यताभूयस्त्वे तु घोष । यथा सवारनादघोषाणामन्योन्यानुग्राहित्वादविनाभूतत्व तथा विवारश्वासाघोषाणा चेति मत्यपि पट्त्वेऽनुप्रदानप्रयत्नद्वैविध्य-मिष्यते । तथा च सवारनादघोषाऽनुप्रदानतया ये पूव अ य र ल वा अ य ड ळ वा ग ज ड द बा ङ य ण न माश्च क्रमेण ससिद्धा । त एव च विवारश्वासाघोषानुप्रदानतया क च ट त पा इति जायन्ते । विवारश्वासाघोषाणा नासानाडीप्रतिपन्थितया कचादीना नासिक्यत्व नास्ति । तेनैतेषा ङ ञ ण न मानामपि श्वासानुप्रदा-नत्वेनोच्चारणे विशुद्धा एव क च ट त पा उच्चार्यन्ते नानुनासिका ।

ईषन्नादा यण् जशो नादिनो ह्झष स्मृता ॥
ईषच्छ्वासाश्चरो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादय ॥१॥

इत्येव ब्रुवन् पाणिनिरन्त स्थाना गजडदबाना चेषन्नादत्व क च ट त पा ना त्वीषच्छ्वासत्वमाचष्टे तत्तु सोष्मवर्णापेक्षया न्यूनत्वाभिप्राय द्रष्टव्यम् । ग ज ड द बापेक्षया घ झ ढ ध भ हेष्वधिकनादस्य तथा क च ट त पापेक्षया ख छ ठ थ फ श ष सेष्वधिकश्वासस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥

अथैते पूर्णस्पृष्टा क च ट त पा यद्याभ्यन्तरप्रयत्नभेदान्नेमस्पृष्टा कृत्वोच्चार्यन्ते तर्हि श ष स हा इति ऊष्माणो जायन्ते ।

क पयोर्नेमस्पृष्टतयोच्चारणे निर्विशेष हकारोदयाच्चत्वार एवोष्माणो निष्पद्यन्ते । शषमहा नासिक्या न सन्ति । विवारश्वासाघोषाणा नासानाडीप्रतिपन्थित्वात् । "अमोऽनुनासिका न ह्रौ"—इति पाणिन्युक्त्या नादिनो रेफहकारयो श्वासिना च सर्वेषामनुनासिकत्वप्रत्याख्यानाच्च । तदित्थ प्रयत्नद्वयभेदाच्चतुस्त्रिंशद्वर्णा निष्पद्यन्ते । तत्रादित पञ्च स्वरा एकोनत्रिंशद् व्यञ्जनानि ॥*॥

इति षष्ठ खण्ड ॥६॥

॥ अथ सन्ध्यक्षराणा स्थानप्रयत्नाः ॥

यौगिकेषु तु वर्णेषु सवर्णद्वययोगे स्थानभेदो नास्ति । तेन ह्रस्वदीर्घप्लुतानामविशेषात् सस्थानत्वम् ॥ अ आ अ ३ कण्ठ्या । इ ई इ ३ तालव्या इत्यदि ॥ विभिन्नस्थानिनोस्तु सहिताया सन्ध्यक्षरस्य द्विस्थानत्वमनुभूयते ॥ आह च तथा—

"ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ" ॥इति

हकारस्तूष्मा द्वेधा सयुज्यते—पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च । तत्रपञ्चमान्त स्थाना प्रत्ययत्वे पुरस्तात् सयुक्तो हकारो निगीर्णो भवतीत्युर

स्थान भजते। ह्ल ह्न ह्म ह्य ह्र ह्ल ह्व। इति॥ कखयो प्रत्ययत्वे हकारस्य जिह्वामूल स्थानम्। 'पफयो प्रत्ययत्वे हकारस्योपध्मान स्थानम्, इति शाकटायनो मन्यते। अथ क च ट त पेभ्यो ग ज ड द वेभ्यो ङ ञ ण न मेभ्यो र ल ड ळे भ्यश्चोपरिष्टात् प्रयुक्तस्य हकारस्याश्रयस्थान-भाक्त्व निष्पद्यते। तेन ख छ ठ थ फा क च ट त पै घ झ ढ ध भा ग ज ड द वै सस्थाना सिध्यन्ति। तथोक्तम्—

"कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू॥
स्युर्मूर्द्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृता ॥१॥
जिह्वामूले तु कु प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो व स्मृतो बुधै" ॥इति॥

ढस्य मूर्द्धा। ळ्हस्य द त। ङ ण न माना रलयोश्च सोष्मत्व लोकभाषाया दृश्यते - साङ्हा, कान्हा, साह्मर, गेल्हा-इत्यादि। छन्दोभाषाया चैते प्रयुक्ता न दृश्यन्ते -इत्यतस्तानुपेक्ष्य कात्यायन सोष्म-त्वेन दशवर्णानिवोपक्षिपति। "द्वितीयचतुर्था सोष्माण" इति। हकारस्यार्द्धस्पृष्टत्वेऽपि आश्रयाणा कगादीना पूर्णस्पृष्टत्वात् सोष्मणा-मपि पूर्णस्पृष्टत्वमुन्नीयते॥

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टा शल स्मृता॥
शेषा स्पृष्टा हल प्रोक्ता निबोधानुप्रदानत॥"॥इति

अनुप्रदाने त्वस्ति विशेष। प्रथमास्तृतीयाश्चाल्पप्राणा —क च ट त पा, ग ज ड द बाश्चेति। द्वितीयचतुर्थास्तु महाप्राणा।

ईषन्नादा यण् जशो नादिनो हझष स्मृता॥
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादय॥१॥इत्युक्ते॥

अस्य प्रकरणस्य लेखाचित्रद्वारा स्पष्टीकरणम्—

परात्पर

असङ्ग	१ अव्यय =	आनन्द	२ अक्षर =	ब्रह्मा
		विज्ञानम्		विष्णु
		मन		इन्द्र
		प्राण		अग्नि
		वाक्		सोम

ससङ्ग ३ क्षर	=प्राण	=आप	वाक्	अन्नाद	अन्नम्
	आप	=वाक्	अन्नाद	अन्नम्	प्राण
	वाक्	=अन्नाद	अन्नम	प्राण	आप॰
	अन्नाद	=अन्नम्	प्राण	आप	वाक्
	अन्नम्	=प्राण	आप	वाक्	अन्नाद॰

१ स्फोट	=महावाक्यम्	२ अक्षरम्	=अ
	वाक्यम्		इ
	अक्षरम्		ऋ
	पदम्		लृ
	वर्ण		उ

३ वर्ण =अ	ह	ग	क
य	य	ज	च
र	ड	ड	ट
ल	ळ	द	त
व	व	ब	प
ईषत्स्पृष्ट	दु स्पृष्ट	मृदुस्पृष्ट	खरस्पृष्ट
घ	ख	ङ	ह
झ	छ	ञ	श
ढ	ठ	ण	ष
ध	थ	न	स
भ	फ	म	ह
सोष्ममृदुस्पृष्ट	सोष्मखरस्पृष्ट	नासिक्यस्पृष्ट	अर्द्धपृष्ट

इति सप्तम खण्ड ।

इतिमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे गुणपरिष्कारस्तृतीय प्रपाठ समाप्त ॥३॥

॥ अथाक्षरनिर्देशश्चतुर्थः प्रपाठः प्रारभ्यते ॥

स्वरो वर्णोऽक्षर मात्रा तत्प्रयोगोऽर्थ एव च ॥
मन्त्र जिज्ञासमानेन वेदितव्य पदे पदे ॥१॥
वेदस्याऽध्ययनाद्धर्मं सप्रदानात् तथा श्रुते ॥
वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च ॥२॥

इति कात्यायनस्मरणाद् वर्णाक्षरज्ञानपूर्वक वेदार्थज्ञान ब्राह्मणानामकारण धर्म्म । तत्र वर्णज्ञान साधितम् । अक्षरज्ञान साधयितव्यमितीद प्रकरणमारभ्यते ॥

ब्रह्म जानानो ब्राह्मणो भवति । ब्रह्म च त्रेधा विवर्त्तमानमिद विश्व निष्पद्यते । परमक्षर क्षर चेति । दिग्देशकालानवच्छिन्नमपि यत्-क्षराऽक्षरयोरालम्बनतया मनोवत् परिच्छिद्यमान भवति तन्मनोमय-मव्यय नाम रूप परम् । तच्चीयमान सन्मनश्च भवति प्राणश्च वाक् च । तत्रास्मिन् मनोमयेऽव्ययेऽवलम्बित प्राणमय क्षरसञ्चालक कूटस्थमक्षरम्। तदवलम्बित वाङ्मयमशेषमिद भूतजात क्षरम् । नैतेभ्योऽतिरिच्यते किञ्चित् । त्रयोऽप्येते पुरुषा एक पुरुष । स विशुद्ध आत्मा वा विग्रहवानात्मा वा, अनेकैर्विग्रहवद्भि कृत स्कन्धो वा स पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम् । स एकैक पुरुषो मनोमय प्राणमयो वाङ्मय प्रतिपद्यते ।

"अथो वागेवेद सर्व" मित्याह वेदपुरुष । वागाकाश । स वायु। तत्तेज । ता आप । सा पृथिवी । सेय पृथिव्यप्सु । आपस्तेजसि । तेजो वायौ । वायुराकाशे वाचि प्रतितिष्ठतीत्येव वाच एवैते विकारा वाचो न व्यतिरिच्यन्ते । तस्माद् वागेवेद सर्वं यदेतत् किञ्चित् क्वचिद् भूतजातमाकलयाम । अत एव च**"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता"**—इति च भगवान् वेदमहर्षि प्राह । तानि

चैतानि सर्वाणि क्षराणि परतन्त्रत्वात् स्वत स्थातु न शक्नुवन्तीत्येतेषा सत्ताधायकमस्ति किञ्चिदन्तरत स्वतन्त्र तत्त्वमक्षर नाम । स प्राण । तत्रानन्तगुणा उपपद्यन्त इति गुणभेदादनन्तविधानपि तान् प्राणान् स्थानपाञ्चविध्यात् पञ्चविधानाहु । त इमे पञ्चाक्षरा श्रूयन्ते ब्रह्मेन्द्रविष्णवोऽग्निसोमौ चेति। एभ्य एव तु पञ्चभ्योऽक्षरेभ्य सर्वाणि वाङ्मयान्येतानि क्षराणि भूतजातानि जायन्ते तदाधारेण प्रतितिष्ठन्ति तत्रैव चान्ते विलीयन्ते। इति परब्रह्मविद्या भवति ॥१॥

तत्रेय वाक् त्रेधा विनियुज्यते-भूतभावेन,शब्दभावेनार्थभावेन चेति। वाच आकाशाद् वाय्वादिक्रमेणोत्पन्नानि भूतजातानि भूतमय प्रपञ्च । स एको विनियोग ।१। अथ "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति नियमाद् वाय्वादिभूतेष्वनुप्रविष्टो वागाकाश एवाघातेन कम्पित पृथग् भूत्वा वाय्वाधारेण वर्तुलवृत्त चतुर्दिक्षु वीचीतरङ्ग जनयति । स नादात्मना कम्पमानो धावन् श्रोत्रमागत श्रोत्रेन्द्रियप्रज्ञया समन्वयाच्छब्द-इत्युच्यते । स च शब्दमयप्रपञ्चार्थमयप्रपञ्चाभ्या द्वेधा विनियुज्यते । तदुक्त हरिणा—

"अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ।।इति॥

उभयविधोऽय वाङ्मयप्रपञ्च । स वाचोऽन्यो द्विविधो विनियोग । तत्रापि त एव प्रकारा अनुवर्तन्ते ये भूतमयप्रपञ्चे व्याख्याता । कनीयाश्चाय वाङ्मयप्रपञ्चो भूतमयप्रपञ्चात् । तस्य तदेकदेशत्वात् । तेन परब्रह्मविद्यामधिजिगासुरादौ शब्दब्रह्मविद्या परिशीलयेत् । अल्पायासेनाधिगता हि सा शब्दविद्या महायाससाध्याया परविद्याया अधिगमायोपयुज्यते । तथा चाह भगवान् वेदपुरुष ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥१॥इति॥

तत्र ब्रह्मेति विज्ञानमाहु । तद् द्विविध शाब्द पर चेति। विज्ञानाभिनिवेशाभ्या ज्ञानसिद्धि भगवान् गौतमो मन्यते । शब्द-

श्रवणाधीनार्थप्रतिपत्तिविज्ञानं तच्छाब्दं ब्रह्म। अथ परीक्षाद्वारा साक्षाद्दर्शनाधीनाऽर्थप्रतिपत्तिः परं ब्रह्म। तत्र पूर्वेषां परीक्षकाणां द्रष्टॄणामाप्तानामर्थविषयकोपदेशवाक्यार्थश्रवणे निष्णाता यदि परीक्षार्थं प्रवर्त्तेरन् तर्हि तेषामभिनिवेशज्ञानं साधीयः स्यादित्ययमर्थः प्रथमः।

अथवैतदन्यथा व्याख्यास्यामः। शब्दस्तावत् प्रकारद्वयेन ज्ञानं जनयति। अभिधानेन प्रतीकत्वेन चेति। ओंशब्दवाच्यं च ब्रह्म। ओमिति शब्दश्च ब्रह्म। तथा च श्रूयते—

"एतद्वै सत्यकामपरं चावरं च ब्रह्म यदोंकारः ॥इति॥

तत्रैतदभिधानपक्षेणायमर्थो व्याख्यातः। अथ खलु शब्दप्रतीकत्व-पक्षेणाप्यस्यार्थो द्रष्टव्यः। द्वे विद्ये भवतः। परा चैवापरा च। परब्रह्मविद्या परा। शब्दब्रह्मविद्या त्वपरा, भूयसा साम्येनो-भयोः प्रवृत्तिरिति शब्दसृष्टिज्ञानेन तत्साहश्यवशादर्थसृष्टिज्ञान-मपि सिद्धं भवति इति पश्यन्ति। यथा च परविद्यायामव्ययमक्षरं क्षरमिति त्रिविधं प्राणब्रह्म। एवमिहापरविद्यायामपि स्फोटो-ऽक्षरं वर्णं इति त्रिविधं वाग्ब्रह्म। तत्र वर्णानामक्षराणां पदानां समस्तपदानां वाक्यानां चैकत्वबुद्धिप्रयोजकः स्फोटोऽव्ययमव्यय-रूपवदमीषामक्षरादीनामात्मत्वेन भवति, इत्यन्यत्र व्याख्यातम्। तत्रैते नित्यमन्वाभक्ताः स्वरवर्णाः पञ्चाक्षरशब्देन व्यपदिश्यन्ते-अ इ उ ऋ ऌ इति। पञ्चभ्य एवैतेभ्योऽक्षरेभ्यः क्षरा सर्वे व्यञ्जन-वर्णा उत्पद्यन्ते। अक्षरोपगृहीताः क्षरा अक्षरालम्बनेऽव्ययायतने प्रतितिष्ठन्ति। परतन्त्राणि क्षराणि व्यञ्जनान्यक्षरं स्वरमालम्बन्ते। अक्षरं तत् स्वरजातमव्यये स्फोटेऽन्वाभक्तं रूपं धत्ते। त्रितयमिद-मेकीभूतमेका वाक्।

अथ वाक्यं पदैः पदमक्षरैरक्षरमपि क्षरैर्वर्णैः कृतरूपं भवतीत्यत-इदमक्षरं वा पदं वा वाक्यं वा सर्वमपीयं वाग्वर्णैरेवाद्धा कृतरूपाऽव-धीयते। अक्षरं तु वर्णानामात्मा भवतीति वर्णेभ्यो भिद्यते।

अतएव—"स्वरो वर्णोऽक्षर मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्र जिज्ञासमानेन वेदितव्य पदे पदे"
इत्यादिवाक्ये वर्णाक्षरयोर्भेद स्मर्य्यते ॥

यत्तु वर्णसमाम्नायोऽक्षरसमाम्नाय इत्यादावभेदेन व्यवहार-दर्शनाद् वर्ण एवाक्षरमिति बालका पश्यन्ति तद् भ्रान्तम् । तयोरष्टधा प्रभेदोपलब्धे । (१) वर्णा क्षरा, अक्षराण्यक्षरा इति पुरुषत ॥ (२) वर्णाश्चतु षष्टि । अक्षर तु गुरुलघुभेदाद् द्विविधमेवेति सख्यात । (३) एकबिन्दुर्वर्ण । नवबिन्दु त्वक्षरमिति योनित ॥ (४) निर्व्यापारो वर्ण । पञ्चमबिन्दुस्थस्याक्षरस्य निर्व्यापरत्वे पृष्ठतो व्यापारत्वे वा लघुत्वम् । पुरतो व्यापारत्वे गुरुत्वमिति व्यापारत ॥ (५) वर्णानामन्नत्वमक्षराणामन्नादत्वमिति वीर्य्यत ॥ (६) अक्षरप्रतिष्ठया प्रतिष्ठिता स्वतोऽप्रतिष्ठा एते वर्णा स्वप्रतिष्ठानि त्वक्षराणि—इति प्रतिष्ठात ॥ (७) वर्णा अक्षरस्याङ्गानि । अक्षर पुनरेषा वर्णानामङ्गीत्यात्मत ॥ (८) ओमिति त्रयो वर्णा एकमक्षर-मिति प्रतिपत्तिभेदतश्च ।

तदित्थमिदमर्थद्वय सिद्ध भवति । वर्णेभ्योऽक्षरमन्योऽर्थ इत्येकम् ॥ अर्थाना च शब्दाना च त्रैधातव्यसाम्यात् परब्रह्मविद्या-शब्दब्रह्म विद्ययोरन्योन्य सौसादृश्यमस्तीति द्वितीयम् ॥

इति प्रथम खण्ड ॥१॥

अक्षरस्य गुरुत्व-लघुत्वोपपत्यर्थं वर्णानामङ्गाङ्गिभावो व्याख्यायते । बृह-त्या वाच पति बृहस्पतिरित्यादौ वाचो बृहतीत्व ब्रुवते । बृहती चेयमैन्द्र छन्द । बृहतीसहस्रस्येन्द्रप्रियधामत्वेनैतरेयारण्यकश्रुतौ व्याख्यानात् । तस्मादियमन्द्री वाग् बृहती । बृहतीति नवभक्तिच्छन्दस सज्ञा । बृहतीत्व चोपदिश द्भिराचार्य्यैरेतस्या स्वरवर्णात्मिकाया ऐन्द्रया वाचो नवभक्तिकत्व विवक्ष्यते । तथा चैतस्या वाचोनव बिन्दवो व्याप्तिस्थान-मित्येनावानय मक्षरस्फोटो द्रष्टव्य ।

एकैक व्यञ्जनमुच्चार्यमाण यावन्त प्रदेशमवगाहते सोऽर्द्ध-मात्राकाल । तदुपलक्षणमयमेकैको विन्दु । यद्यपि स्वर एवाक्षर-मुच्यते, स्वरश्च केवल द्वौ विन्दू अवगाहते न तु नव विन्दून् । स्वरस्यैक-मात्रतया, द्वाभ्यामेव चार्धमात्रबिन्दुभ्यामेकमात्रत्वसम्पत्ते । तथापि तस्य नवविन्दुकमिदमायतन क्रान्तिस्थान भवति । एतावति प्रदेशेऽस्य स्वरो व्यञ्जनान्यात्मसात्कर्तु क्षमते । सव्यञ्जनोऽपि स्वरोऽक्षर भवति । तथाचैवविधस्य क्षरस्याय नवविन्दुक. स्फोट आयतन विज्ञायते। तदव्ययम् ।

अयमत्राभिसन्धि । परब्रह्मणीवास्मिन् शब्दब्रह्मण्यप्यक्षरमात्मा उक्थाऽर्काऽशितिभेदात् त्रिभक्तिर्भवति । तत्राय विन्दुद्वयावगाही स्वर आत्मा उक्थम् । तस्यैते सप्तविन्दवोऽर्कस्थानम् । उक्थादुत्थिता प्राणा अर्का । ते क्रान्तिमण्डले स्वे महिम्नि अशितिमाधातुमाक्रम-माणा क्षर व्यञ्जनमात्मसात्कुर्वन्ति । ततोऽयमुक्थ आत्मा क्रान्तिमण्ड-लाख्ये स्वे महिम्नि स्वेनार्केणाभिनिगृहीतान् व्यञ्जनवर्णानात्मन्विन. करोति । तेनैतस्य स्वरमात्रस्याऽक्षरत्वेऽपि तावता क्षराणा व्यञ्जना-नामक्षरसत्तयैव सत्तावत्वात् तावद् व्यञ्जनविशिष्टस्यास्य स्वरस्या-क्षरत्वमुपपद्यते । यथा अ इत्येकमक्षरम् । एव य[२] र्य[३] र्त्य[४] स्त्र्य, इत्येता-न्यप्येकैकान्यक्षराणि भवन्ति । तानि उपसर्गव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि समान स्थानमवगाहन्ते । एवमुत्तरतोऽपि अ[१] अर्[२], अर्क्[३] अर्क्ट, इत्येव चत्वार्यप्यक्षराणि उपधानव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि समान स्थान भजन्ते । तत्र व्यञ्जनाऽभावे शुद्धस्यैव स्वरस्याक्षरत्वम् । पृष्ठत पुरतो वा व्यञ्जनसत्वे तु तद्विशिष्टस्यैवाक्षरत्व न तु शुद्धस्येत्या-वेदयति भगवान् कात्यायन - '**स्वरोऽक्षर सहाद्यं र्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चाव-सितै**"—इति । स्वरो द्वेधोपपद्यते अपृक्तो व्यञ्जनसपृक्तश्च । "**अहम्**"। इत्यत्र प्रथमोऽकारोऽपृक्त । तस्य द्वेधा प्रतिपत्ति शक्या कर्तुम् । वर्णत्वेनाक्षरत्वेन चेत्याह—'**स्वरोऽक्षर**" मिति । हकारा-दुत्तरस्त्वकारो हमाभ्या सपृक्त । तत्र व्यञ्जनविशिष्टस्य स्वरस्य

व्यञ्जनोपहितत्वेन दृष्टौ वर्णत्वमेव नाक्षरत्वमित्याह– "सहाद्य" रित्यादि । तेन हम्,, इत्येतावतो व्यञ्जनविशिष्टस्वरस्याक्षरत्व विधीयते । "वागित्येकमक्षरम्-अक्षरमिति त्र्यक्षरम्" (ऐ ब्रा २१ अ इत्यैतरेयश्रुत्या तथैव प्रतिपत्ते । कतिभिर्व्यञ्जनैरिति जिज्ञासाया पृष्ठतस्तावदादर्रिन्येकशेषादेकेन द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिर्वा व्यञ्जनै, उत्तरतस्तूत्तरैरित्येकशेषादेकेन, द्वभ्या त्रिभिरेव वा सपृक्तस्याक्षरत्व नियम्यते । तत्र पृष्ठार्केणाभिनिगृहीता अशितयश्चत्वार्य्युपसृष्टानि व्यञ्जनानि । पुरतोऽर्केण त्वभिनिगृहीता अशितयस्त्रीण्युपहितानि व्यञ्जनानि । तान्युभयान्यस्यात्मन स्वरस्याङ्गानि भवन्ति । तत्रेय वाक् पृथ्वीरस । स्वर सूर्य्यरस । तथा च पृथिव्या सूर्याङ्गत्व मिवैतस्या वाच स्वरप्राणाङ्गत्व वेदितव्यम् ॥१॥

अथाहु । अपृक्तस्य व्यञ्जनसपृक्तस्य वा स्वरस्यैतत्कात्यायनोक्त-मक्षरत्व स्वरान्तरासन्निधाने साधूपपद्यते । किन्तु यत्रानेकस्वरमेक पद तत्र स्वरद्वयमध्यवर्त्तिना व्यञ्जनाना पूर्वाङ्गत्व वा पराङ्गत्व वेति सशय । यथा अपक्वस्त्यानमिति पञ्चाक्षरे पदे शुद्धोऽकार । पयुताऽकार । कवयुताऽकार । सतययुताऽकार । नपूर्वो मोत्तर-श्चाऽकार —इत्येव तानि पञ्चाक्षराणि भवन्ति । तत्र पकार-ककारमकारादीना पूर्वाङ्गत्व कस्मान्नास्तीति शङ्कायामुच्यते । स्वरस्य पृष्ठत पुरतो वा बलतारतम्य भवतीति स्वरद्वयसत्त्वे पूर्वस्य परस्य वा स्वरस्य बाध्यबाधकभावेनैकत्र बलोपक्षयाद् व्यञ्जनविशेषे सक्रमणबलमेकस्य प्रतिरुध्यते । यथा कुलशब्दे लकारस्य पराङ्गतया पूर्वाङ्गत्वाऽनुत्पत्ति । अधिकेन परबलेनाल्पस्य प्रत्याहतत्वाद् । तच्चेद बलतारतम्य स्वरद्वयसन्निकर्षे नियम्यते । तथाहि पञ्चमो विन्दुर्हृदयत्वादुक्थ । तस्मिश्च पञ्चपादा बलम् । अथ षष्ठे विन्दौ चत्वार पादा बलम् । तदुभयविन्दुस्थे स्वरे नव पादा बलस्योपपद्यन्ते ।

तैरेव नवपादैर्बलैरय स्वर पूर्वपरविन्दुस्थेषु व्यजनेषु विभवति। तथा च पञ्चमविन्दुस्थे तावदुक्थे पूर्ण बल भवति। अथ उक्थविन्दो पृष्ठतश्चतुर्षु

पुरतश्च सप्तमादिषु त्रिषु बिन्दुषु क्रमेणाक्रमशोबल पादतो ह्रसति इति निसर्ग ।

अनुष्टुब् वाक्	उपसर्ग-व्यञ्जनानि वाक्				स्वर वाक्		उपधा-व्यञ्जनानि वाक्			
अर्द्धमात्रादेश	१	२	३	४	५	६	७	८	९	प्राणो बृहती
नवबिन्दव	०	०	०	०	०	०	०	•	०	अक्षरो बृहतीन्द्र
	१	२	३	४	५		६	७	८	वागनुष्टुप् (वायु)
स्वरस्याक्षपरा बलपादा	I	I	III	IIII	IIII	IIII	III	II	I	स्वरबलानि वाचि
	अर्धमात्रावच्छिन्नैर्नवभि प्राणैरवच्छिन्न मनो वाङ्मय भवति॥१॥ मन प्राणवाङ्मयमेकमक्षरमव्ययकोशानयपर्य्याहम् ॥२॥									

तेन हरि-शब्दस्य रेफे पूर्वस्वरबल त्रय पादा । परस्वरबल तु चत्वार पादास्तेन रेफ पराङ्गम । [कात्स्न्यम्] इत्यत्र तकारे पूर्वस्वरबल द्वौ पादौ, परस्वरबल त्वेक पाद । तेन तकार पूर्वाङ्गम सकारे पूर्वस्वरबलमेक पाद । परस्वरबल द्वौ पादौ । तेन सकार पराङ्गम् । [ऊर्क्स्त्र्यङ्गे] इत्यत्र, ककारे पूर्वस्वरबल द्वौ पादौ, परस्वरबल तु तत्र नास्तीति ककार पूर्वाङ्गम् । सकारे तु पदान्तयत्याऽर्द्धमात्रिकया विच्छेदात् पूर्वस्वरबल त्रय पादा । परस्वरबल त्रय पादा । बलसाम्यादुभयतोऽयमाकृष्टस्तकारो द्विरुच्यते । तदित्थ बलवैषम्ये यस्य बलाधिक्य यत्र व्यञ्जने क्रमते तत् तस्याङ्गम् । तदेतन्निष्कृष्याह कात्यायन । **"सयोगादि पूर्वस्य । यमश्च । क्रमज च । तस्माच्चोत्तर स्पर्शे । अवसित चेति।"** (१।१०२।१०६) तर्क । गुल्म, । हव्यम् । पत्नी । मत्स्यम् । इत्यादिषु मध्यवर्त्तिनो व्यञ्जनयोरेक पूर्वाङ्ग द्वितीय पराङ्गम् । अन्तस्थोष्मभिन्नाना सयुक्तानामवसिताना च व्यञ्जनानामुच्चारण द्वेधा

अञ्जसा विक्रम्य चेति। 'यथैवोपक्रमेद् वर्णास्तथैवैतान् समापये" दिति नियम्योच्चारयता पदमध्ये बलविशेषप्रयोगाभावोऽञ्जसोच्चारणम्। सत्यमिति। अत्र स्पर्शस्य तकारस्य तर्कगुलमादचन्त स्थवन्मृदुग्रह। तत्रेद तकारस्य पूर्वाङ्गत्वमुक्तम्। अथ विक्रम्योच्चारणे तु स्पर्शे बल-विशेषोदयात् पूर्व स्वरो विक्रमते। तेन स्पर्शान्ते विच्छिद्य पुनरुत्तर-वर्णोच्चारणाय प्रयत्नलाभ। तत्र "सयोगविभागशब्देभ्य शब्द" इत्यौलूक्यशास्त्रात् सयोगजस्पर्शानन्तर विभागज पुनरन्य स्पर्श उदेतीति वर्णद्विरुक्तिर्भवति। तथा चैव सयोगादेर्वर्गस्य द्वित्वसिद्ध व्यञ्जन क्रमज तत्पूर्वाङ्गम। सत्यमिति तद्वित्वे प्रथम पूर्वस्य। तयौ परस्याङ्गम्। रुक्मइनि कयमौ पूवस्य। म परस्य। रहयोस्तु सयोगादित्वे पर स्पर्शो द्विरुच्यते। यथा पाश्र्व्यमिति रात्पर श क्रमज पूर्वस्य। शवया परस्य। वर्ष्यायेति रात् प पूर्वस्य। पयौ परस्य। बाह्वोरिति हाद्व पूवस्य। व परस्य। क्रमजादुत्तर व्यञ्जन स्पर्शे परे पूर्वाङ्गम्। यथा पार्ष्ण्या इति रपषा पूर्वस्य, णयौ परस्य। वर्ष्मन् इति रषषा पूर्वस्य म परस्येति॥

"ङ्णो कुक् टुक् शरि। नश्च। शि तुगिति पाणिनीयै' सूत्रैर्विधीयमाना कटधता पूवस्पर्शद्विरुक्तिरूपा एवावधीयन्ते। ङणनाना ह्रस्वात्परेषा स्वरप्रत्यये द्विरुक्तिरिव स्वरभक्तिमदूष्मप्रत्यय-त्वेऽप्युच्चारणसप्रदायक्रमानुराधात् क्वचित् स्वरमात्रात् परेषा द्विरुक्ति प्रवर्त्तते। किन्तूष्मगणा नामिक्यप्रतिपन्थितया नासिक्यता निवर्तत-इति प्राङ्क्षष्ठ, सन्त्स मञ्ञ्शम्भुरिति रूपाणि। सञ्ञ्शम्भुरित्यत्र तु प्रतिगृह्यत्वाद्विरत्योच्चारणाच्च नासिक्यताया अनिवृत्ति। एषु सर्वत्र द्वित्वसिद्धस्य पूर्वाक्षराङ्गत्व नेयम्।

कात्स्न्यमित्यद्वयान्तराले अ, र, त, स, न, या षड्वर्णा। तेष्वरता पूर्वमक्षर सनया परमक्षर भजन्ते। पृष्ठतो बलेन तकारे परस्य पुरतो बलेन मकारे पूर्वस्याक्रमणेऽपि विप्रतिषेधे मूलबलात् सिद्धिरिति न्यायेन कृत्स्नशब्दस्य स्याऽनुरोधात् सामञ्जस्योपपत्ते। तवस्यमित्यत्र कमये पूवस्य, यमके परस्य बलप्रयोगाद् विप्रतिषेधे

सन्निकर्षातिशयात् कस्य पूर्वाङ्गत्वेऽपि सयपो पराङ्गत्वमेव। विप्र-निषेधे पर कार्य्यमिति न्यायेन पुरतो ब..पेक्षया पृष्ठतो बलमतिशेत इति मध्यमकारे पराङ्गत्वमिद्धे। वैदिकाना तु समये पूर्वबला-बत्त्वेऽपि ककारे परबल प्रमज्जत इति बलद्वयविरुद्धप्रत्याकर्षात् क-द्वयमिद्धि तकवम्यमिति। तत्रोत्तरके सप्रयत्नाक्रमणान्नामिक्यत्व-मिति यमसज्ञा क्रियते ॥ [विश्वप्स्न्या] प पूर्वाङ्गम। न पराङ्गम। [विष्वक्पाश] इति बलसाम्येऽपि क पूर्वाङ्ग न पराङ्गम। पदान्तयत्या विच्छेदात्। तदित्थ स्व ानेकत्वे बाध्यबाधकभावो व्याख्यात ॥*॥

उक्त पूवम। अयुक्त, मति व्यञ्जने व्यञ्जनमपृक्त स्वरोऽक्षर भवतीति। तत्र सप्त व्यञ्जनान्येकेन स्वरेण ग्रहीतु शक्यन्ते। यथा [स्त्र्यर्क्ट्] इति। स त र य अ र क ट—वर्णैरष्टवर्णं सप्त-व्यञ्जन नवविन्दुकमकारात्मकमेकमक्षर भवति। तत्राकारो वर्णमात्र न त्वक्षरम्। सोऽय वर्णोऽकार सप्त व्यञ्जनानि चाकारात्मकस्या-क्षरस्याङ्गानि। तदुच्चारणाधीनोच्चारणत्वात्। नातोऽधिकमस्य स्वरस्य व्यञ्जनाभिनिग्रहणे सामर्थ्यम्। अत एव तु पृष्ठत पञ्चम पुरतो वा चतुर्थं यदि व्यञ्जनमुपदध्याद्—अवश्य तर्हि तदुच्चिचारयिषा-वशाकृष्ट कश्चिदन्य स्वरस्तत्र प्रसज्येत। तदुच्चारणाय पूर्वस्वर-स्यालब्धबलत्वात्। यथा [न स्त्र्यर्क्ट्प्] इत्यत्र नकारे तकारे च स्वरो हठादासज्जते ॥ इति द्वितीय खण्ड ॥

अथातोऽस्मिन्नक्षरे दैवतानुध्यानमाख्यास्याम। निरवयवे मनसि तावत् समावृतो नव प्राणखण्डा सन्निविशन्ते। प्राणमयास्ते कोशा। प्राणात्मकेषु च तेषु नवविन्दुषु पञ्चमो विन्दुर्मध्यत्वा-दात्मा। इतरेऽष्टावङ्गानि। पचमविन्दुस्थ स्वरोऽक्षरम्। स चाय-मैन्द्रवायवो ग्रहो वाच आत्मा। स हि प्राणो वाङ्मयत्वादिन्द्रो नामोच्यते। अयमेव प्राण सरस्वत्यधिष्ठाता सरस्वान्नामाभिधी-यते। यथोक्त बृहद्देवतायाम्—

'मरासि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत त्रिषु॥

सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाच प्राहु सरस्वतीम् ॥,, इति केचिदाहु ॥

यद्यपीय सर्वा वाक् पार्थिवत्वादाग्नेयी प्रतिपद्यते । **"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"** इति श्रुते (१० । ३ **प्र.** । ५ **ब्रा**) तथापीयमिन्द्रेण प्राणेनाधिष्ठितत्वात् तेनैकीभावादैन्द्री भवति। स चायमिन्द्र प्राणो द्विविध आन्तरीक्ष्यो दिव्यश्च। तत्राय दिव्येन्द्र प्रज्ञा।ाण । स च वितायमाना॥ ध्वनिरूपाया वाचि विवेचयन् स्वर व्यजन चैव सविभाजयति। अथान्तरीक्ष्यो वायुना सजूर्भवति । इन्द्रतुरीयो वायुरैन्द्रवायवो ग्रहो भवन्नाग्नेयीमिमा सर्वां ध्वनिवाचमध्यास्ते। गायत्री ह्यग्नि । अग्निदैवतत्वाच्चेय वाग् गायत्री । अष्टभक्तिर्हि गायत्री । तेन स्वरमेकमनुगतानि सप्त व्यजनान्येकमक्षर वाक् । तस्या वाचोऽयमुक्थाश स्वरो नामैतेषु नव-विन्दुषु पचम षष्ठ च विन्दुमधिष्ठिति। प्राणस्त्वयमिन्द्राशो बृहती-रूपत्वान्नव विन्दूनभिव्याप्यावतिष्ठते । तथा च श्रूयते—**"याव‌द् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्"**—इति। **"यत्र ह क्व च ब्रह्म तद् वाक्। यत्र वाक् तद्वा ब्रह्म।"** इति च ॥ (ऐ आ ` `) इन्द्रो ह वाचा ब्रह्म। इन्द्र आत्मा ब्रह्मेत्येकार्था । यथाय शारीर आत्मा सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्यावतिष्ठते—एवमयमिन्द्रो वागात्मा नव विन्दूनभिव्याप्नोति । एतावदेवास्य वाङ्मयस्येन्द्रस्य शरीर प्रतिपद्यते । तस्य शरीरस्य भागे यावन्ति व्यजनानि सम्प्रविष्टानि भवन्ति तावतीय वाक् तस्मादिन्द्रात् परिमीयते । अष्टवर्णैर्नवविन्दुभिश्च परिमिता ह्येयमेकाक्षरा वाक् सिद्धा भवति । तमेतमर्थं भगवान् कुरुसुति काण्वो वेदपुरुष प्राह—

"वाचमष्टापदीमह नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ॥"

इन्द्रात् परितन्व ममे—इति ॥ ऋ० स० ८।७६।१२।

द्वात्रिंशदक्षरो बृहतीरूप प्राण इन्द्र । तस्येन्द्राख्य-प्राणस्य तनू परि । इत्थभूताख्याने परिशब्द । अष्टा-पदी नवस्रक्तिम् । ऋतस्पृश वाच ममे परिमापितवान्। अष्टौ हि चतुरक्षराणि भवन्तीति द्वात्रिंशदक्षराऽनुष्टु-बियमष्टापदी वाक् । पुनरप्येकेन चतुरक्षरेण पादेन बृहती सम्पद्यमाना नवस्रक्ति । स्रक्तय कोणा । सेत्थमियमनुष्टुप् वाक् तमृत बृहतीप्राण स्पृशति । बृहत्यामनुष्टुभोऽन्तर्भावादिह वाच प्राणेनैकीभावो विवक्षित । इत्यारण्यकश्रुत्यनुसारिणी व्याख्या (ऐ० आ० २।३।६) ॥ ऋतस्पृशमित्यस्यानुष्टुब् वाग् बृहत्या स्पृष्टेत्यर्थमाह सायण। ऐतरेयश्रुतिस्तु **"सत्य वै वागृचा स्पृष्टे"** त्यर्थमाह । तथा चाय श्रोत्रग्राह्य शब्द सत्य वाक्। सहृदयत्वात्। सा ऋतवाचा निर्हृदयया नित्य स्पृष्टा भवतीत्यर्थ प्रतिपत्तव्य ।

अयमत्राभिसधि । ऋत च सत्य चेति द्वे नेत्रे भवत । नेत्र सूत्रम् । तत्र हृदयतोग्राहि नेत्र सत्य नाम । सर्वतोग्राहि तु नेत्रमृत नाम । तथा चाऽशरी-रमहृदय सर्वमेव ऋतनेत्रगृहीतत्वाद् ऋतमुच्यते । हृदयेनाकृष्टत्वात्तु सहृदय सशरीर सत्यम् । आपो वायु सोम इति ऋतानि, अशरीरत्वान् । अग्निर्यम आदित्य इति सत्यानि, सशरीरत्वात् । तत्राप इति पारमेष्ठ्यमण्डलस्था सुब्रह्मण्यानाम्नी वाचमाह । या श्वेतामष्टापदी गायत्रीनाम्नी वाच ब्रूम, सा सर्वापि स्वयोनिरूपा तामृतवाच स्पृशन्त्येव रूप धत्ते । तत्प्रभवा, तत्प्रतिष्ठिता, तत्रैवान्ते विलीयते । तस्मादाह-ऋतस्पृशमिति । आपो हि सा वाक् । **"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत ।** सेद सर्व-**माप्नोद् यदिद किञ्च तस्मादाप** इति श्रुते (श० ६।१।१।६) सा ऋतम् । यस्त्वयमत्र प्राण तत्सत्यम् । **"आप एवेदमग्र आसु ।**

ता आप सत्यमसृजन्त (शत० १४ का० ६ प्र० ६ ब्रा०) इति श्रुते।
प्राणस्तावदिन्द्र सोऽप्सु वाक्षु द्वेधा विनियुज्यते। सत्यात्मना प्रज्ञात्मना च। तत्र प्रज्ञाप्राणेन वर्णाक्षरपदवाक्यादिविभागा भवन्ति। मानुषोष्वेव तु वाक्षु स प्रज्ञाप्राणोऽधिकुरुते न त्वव्याकृतासु वायुतेजोजलपृथिवीना वाक्षु। सत्यप्राणस्त्वय सर्वास्वेव वाक्ष्वविशेषेणाधिकुरुते सत्येनागर्भितानामपां वाचामनात्मनया स्थातुमनर्हत्वात्। आसामेव ऋताख्याना वाचा समुद्र सरस्वान्नाम। सेयमशरीरा विभ्वी वाक्। अथ सत्यवैशिष्ट्येन तदवच्छिन्नतया सा वाक् सशरीरा सती सरस्वती॥ अपरिच्छिन्नत्वाद् ऋत सरस्वान्। परिच्छिन्नत्वात् सत्यवती सरस्वती। सोऽय सत्य-प्राण एव प्रज्ञाप्राणेन विभाजितोऽक्षर भवति। स आत्मा। स स्वर। सोऽङ्गी। व्यञ्जनानि तु क्षराणि तान्याङ्गनि। एकेन विन्दुना त्वेतमात्मान वर्द्धयति। स पञ्चमविन्दुस्थ षष्ठ बिन्दुमप्यवगाहमान सन्नेकमात्र सम्पद्यते। वीर्य्याधिक्या-द्ध्येक कश्चिदात्मा चाङ्गी च भूत्वा सर्वाण्यङ्गान्यधीष्टे इति हि न्यायो यजु श्रुतौ षष्ठे काण्डे व्याख्यात। (श०६।१प्र०।१ ब्रा०।६क० तेनार्द्धमात्राणा व्यजनानामयमेकमात्र स्वरो मात्राधिक्यादात्मा भवति। आत्मत्वाच्चाय स्वरस्तेषु व्यञ्जनेषु प्रभवति। सर्वाणि व्यजनान्यात्मसा-त्कुरुते। तथा चैकमात्रादात्मविन्दो पृष्ठतश्चत्वारोऽर्द्धमात्राबिन्दव उपसर्गस्थानानि। पुरतस्तु त्रयोर्द्धमात्राबिन्दव उपधानस्थानानीत्येव-मष्टौ बिन्दवो निष्क्रुप्यन्ते। एतदभिप्रायेणैव श्रूयते—

"ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्—(ऐ आ १।१४)

१	२	३	४	५	६	७	८	६	बृहती
०	०	०	०	०	०	०	०	०	प्राण
व्य	व्य	व्य	व्य	स्वर		व्य	व्य	व्य	वाच
I	II	III	IIII	IIIII–IIII		III	II	I	अक्षरबलानि
१	२	३	४	५		६	७	८	अनुष्टुप

"वागनुष्टुप्"— (शत १।५।२।२७) इत्याचक्षाणा वैदिकमहर्षयोऽक्षरस्यैतस्याष्टबिन्दुत्वमभिप्रयन्ति। स्वरस्यैकस्य व्यञ्जनद्वयसमानावगाहितया नवव्यञ्जनसनिवेशावकाशस्यैकस्वरकसप्तव्यञ्जनसनिवेशावकाशेन तुल्यत्वाद् बृहतीप्राणावच्छिन्नस्याक्षरस्य वागवच्छेदेनाष्टभक्तिकत्व सभवतीत्यक्षरात्मिकाया वाचोऽनुष्टुप्त्वमुपपद्यते। अष्टभक्तिकस्य छन्दसो गायत्रीत्ववदनुष्टुप्त्वेनापि व्यपदेशसभवात्। अथवैकैकमक्षरमष्टभक्तिक भवतीति चतुरक्षरच्छन्दसो द्वात्रिंशद्भक्तिकत्व सभवति। चतुरक्षराणि सर्वाणि च्छन्दासि श्रूयन्ते (शत० १।५।२।२७)। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिगित्येव विंशत्यक्षराया द्विपदाविराज ऊर्ध्व चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैरनुवर्द्धितैर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीनामुपपन्नतया छन्दोभिरुपलक्षिताया सर्वस्या वाचो द्वात्रिंशद्भक्तिकानुष्टुप्त्वमुपपद्यत इति बोध्यम्।

प्रत्यक्षर नवबिन्दुषु हृदयस्थस्वरस्थानतया पञ्चमषष्ठबिन्द्वोरात्मत्वम्। इतरे सप्त बिन्दवस्त्वात्मन क्रान्तिस्थानत्वान्महिमानो भवन्ति। पञ्चमषष्ठबिन्दुस्थस्य स्वरस्वरूपनिरूपकस्य प्रज्ञाप्राणस्येन्द्रस्य सपरिष्वक्तोऽयमक्षर स्वरूप-निरूपक प्रज्ञाप्राणोऽन्य इन्द्र सप्तव्यञ्जनवर्णानष्टम स्वरवर्ण चाभिव्याप्नोतीति प्रतीयते। अत एव च बृहतीच्छन्दसोऽप्यस्येन्द्रस्यानुष्टुप्चारित्वमप्युपपद्यते। तथाचाहुर्वेदमहर्षय -

बीभत्सूना सयुज हसमाहुरपा दिव्याना सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्र निचिक्युः कवयो मनीषा॥
(ऋक् स० म० १०, सू० १२४, मन्त्र ९)॥इति॥

त्रयस्तावदस्य मन्त्रस्यार्था भवन्ति। अधिदैवतमधिशब्दमधिभूत च। तत्राधिदैवतमर्थो ब्रह्मविज्ञाने सिद्धान्तवादे द्रष्टव्य। इहाधिशब्द व्याख्यायते। बीभत्सूना बन्धनमिच्छता निराश्रय स्थातुमसमर्थतया परावलम्बनमपेक्षमाणाना क्षराणा व्यञ्जनाना सयुजम् आश्रयदानेन सहयोगिन कञ्चिदर्थ हस ब्रुवते। स्वातन्त्र्येण स्थातुम-

शक्नुवानान् व्यञ्जनरूपान् क्षरानर्थानाश्रयो भूत्वा य स्वस्मिन्नुपवध्नाति सोयमैन्द्रवायवग्रह प्रकृते हम इति वेदितव्य ।

"ये अर्वाड् उत वा पुराणे, वेद विद्वासमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे, अग्नि द्वितीय तृतीय च हसम्"

इति मन्त्रश्रुती हसपदस्य वायुपरत्वावगमात् । प्राणो वायुरिति श्रुते प्राण स हसो भवति । प्राण एव त्वक्षरसज्ञ क्षरान् व्यञ्जनवर्णानात्मनि बध्नाति । अथेहाऽऽप इति वाच प्रतिपत्तव्या । **'सोपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवाऽस्य साऽसृज्यत । सेद सर्वमाप्नोद् यदिद किञ्च तस्मादाप "** इति यजु श्रुते [शत० का० ६ प्र० १ ब्रा० १] तासा दिव्याना तृतीयस्यामितो दिवि पवमानाना वाचा सख्ये समानभावेऽय हसश्चरति । ऐन्द्रवायवेन प्राणेनेय वाग्, वाचा चायमैन्द्रवायवप्राणोऽव्यतिरिक्त रूप धत्त इति भाव । अष्टवर्णात्मिका वागनुष्टुप् । तामनु । इत्थभूताख्यानेऽयमनुशब्द कर्मप्रवचनीय । अनुष्टुप्छन्देनेहाष्टवर्ण-सनिवेशस्थानरूपा नव बिन्दवो लक्ष्यन्ते । नवविन्दूनभिव्याप्य कृतात्मानमिहाक्षरशब्देन प्रतिपन्न तावदिन्द्र प्रज्ञाप्राण वैज्ञानिका स्वमनीषया विचारदृष्टचा निचिक्युर्निर्धारयामासु । यद्यपि वागेव श्रोत्रेण श्रूयते न प्राणस्तथाप्यक्षरात्मिकाया वाचोऽष्टवर्णविच्छिन्नतया वाचस्तावत्प्रदेशावगाहित्वासभवाद् वाचोऽतिरिक्त वागालम्वन कचिदिन्द्र नाम प्राण विद्वास स्वबुद्धिभावनया ददृशुरित्यर्थ ॥ इत्थमिदमधिशब्द व्याख्यातम् ।

अथैतस्य भूतग्रामस्य वाड्मयत्वादधिभूतपक्षेऽपि तुल्योऽर्थ । अतएव–

"अप्रक्षित वसु विभर्षि हस्तयोरषाढ सहस्तन्वि श्रुतो दधे ।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरय ॥
(ऋ० स० म० १ सू० ५५ मन्त्र ८१)

इति मन्त्र व्याचक्षाणाऽऽरण्यकश्रुति **"सोयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध ॥ तद्यथाऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध, एव**

सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्य प्राणेन वृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्याद्"—(ऐ० आ० २।१।६) इत्येव शब्दाक्षरवद् भूताक्षरेष्वपि वृहतीप्राणात्मकस्येन्द्रस्य तुल्यमभिव्याप्तिमाचष्टे। तदिद विस्तरतो ब्रह्मविज्ञाने व्याख्यात द्रष्टव्यम् ॥*॥

॥इति तृतीय खण्ड ॥३॥

एतच्च सप्तव्यञ्जन स्वरक्रान्तिमण्डल मति सभवे व्याख्यातम्। न त्वक्षरत्वप्रयोजकतया सप्ताना व्यञ्जनानामेकान्तत सद्भावोऽपेक्ष्यते। नवानामर्द्धमात्राविन्दूना स्वरूपसद्योग्यतालक्षणतया व्यवस्थितत्वेऽपि फलोपधायकतालक्षणतया सर्वत्रानुपरतत्वे। तथा चोपपद्यते व्यञ्जनात्यन्ताभावे स्वरस्यैव केवलस्याक्षरत्वम्। किन्तु यत्र व्यञ्जनसद्भावस्तत्र तद्विशिष्टस्यैवाक्षरत्व न तु केवलस्येत्यपि प्रागुक्त न विस्मर्तव्यम्। तत्रापि चैकेनैव व्यञ्जनेन द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भि पञ्चभि षड्भि सप्तभिर्वा वैशिष्टचे स्वरस्याक्षरत्व द्रष्टव्यम्। न वाक्, प्रागित्यादि॥ इद पुनरत्राववेयमीषत्स्पृष्टार्धस्पृष्टे स्वरच्छायापन्नै रन्त स्थोष्मभिरुपसर्गोपधानयो सगर्भत्वे सत्येवेद स्वरक्रान्तिमण्डल सप्तविन्दुकमुपपद्यते। अन्त स्थोष्मणोरप्रत्यासत्तौ त्वाक्रमणवल तदपचीयते। [वत्न ट् प्] इति पृष्ठतस्त्रिषु कतमेषु पुरतष्टपयोर्द्वयोरेव विन्द्वोराक्रमणवलोपपत्ते। तदित्थ वर्णविशेषे क्रमणवलतारतम्यमन्वीक्ष्यम्। यथा खल्वस्य क्रान्तिवल तारतम्येन घटते। एवमाभ्यन्तरस्थानामपि कण्ठादीनामाभ्यन्तरप्रयत्नाना च स्पृष्टादीनामस्ति वले तारतम्यम् वाह्यस्थानाना वाह्यप्रयत्नानाञ्च। तेन षत्वणत्वकुत्वचुत्वादिका आभ्यन्तरस्थाननिवन्धना उदात्तस्वरितानुदात्तप्रचयादिका वाह्यस्थाननिवन्धनाश्च व्याकरणशास्त्रोक्ता सर्वेऽपि सन्धिफलविशेषा भवन्तीति नैरुक्ताना समय। राजसु विल्सु, रामेषु, हरिषु, हवीषीत्यादौ सकारस्योत्तरस्वराङ्गत्वेऽपि पूर्वस्वरवलाक्रमणतारतम्यानुरोधेन स्थानापकर्षात् षत्वमुपपद्यते। [रामाणा षण्णाम्] इति रषनिवन्धन णत्वम्। वाक्, स्रक्, रक्तम्, निर्गिक्तमित्यादौ कुत्वम्।

सञ्चरित-सञ्जनादिषु चुत्वमित्येव स्थानप्रयत्नक्रान्तिबलतारतम्य-निबन्धना विशेषा भवन्तीत्यन्यत्र विस्तर ॥

॥ इति चतुर्थ खण्ड ॥४॥

तदित्थमिदमक्षरस्वरूप व्याख्यातम् । व्याख्यातश्चास्मिन्नक्षरे स्वरव्यञ्जनयोरङ्गाङ्गिभाव । तत्रैतेष्वङ्गेषु व्यञ्जनेषूपसर्गे सत्यसति वोपधानबलस्य कार्य्योपधायकत्वाभावेऽक्षरस्य लघुत्व वक्तव्यम् । यथा-अ, य, न्य, क्न्य इत्येवमादय सत्यप्यधस्तात् व्यापारे ऊर्ध्वतो व्यापाराभावाल्लघव । उपधाने त्वाक्रमणव्यापारस्य बलोपधायकतायामक्षरस्य गुरुत्व भवतीति सिद्धान्त । दीर्घस्वराणा सन्ध्यक्षरस्वराणामनुस्वारविसर्गव्यञ्जनान्तस्वराणा व्यञ्जनद्वयसयोगपूर्ववर्त्तिस्वराणा चोपहितवर्णोपेततया पुरोऽर्कव्यापारसत्वाद् गुरुत्वमुपपद्यते । यथा—आ, ए, ऐ, अ, अ, अत्र, इत्येवमादय पुरतो व्यापारवत्त्वाद् गुरव । तथा चेत्थ लघुगुरुभेदादक्षरद्वैविध्य व्यवतिष्ठते ॥*॥

॥ इति पञ्चम खण्ड ॥५॥

"इति श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे अक्षरपरिष्कार ॥ (४)

॥ चतुर्थ प्रपाठ समाप्त ॥

अथ सन्धिपरिष्कारः पञ्चमः प्रपाठः ॥५॥

इदमेवाक्षरमक्षरान्तरेण सवियोगे परस्परेण वन्धनतो हृदयग्रन्थ्युत्पत्तौ क्षरोत्पत्तिहेतुर्भवति । परब्रह्मविद्याया क्षरभूतानीव शब्दब्रह्मविद्याया क्षरा व्यञ्जनवर्णा । इन्द्रियग्राह्यै क्षरैरनिन्द्रियग्राह्यो वाक्प्राणोऽभिव्यज्यते तस्मादेपा व्यञ्जनत्वम् ॥

(१) निरूपकभेदात् सन्धित्रैविध्यम्

तत्राय सन्धियोग परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि निरूपकभेदाद् द्विविध ॥ विभूति योगश्च । तत्र योग पुनर्द्विविध । सश्लेप, सपरिष्वङ्गश्च ॥ यत्र युक्तयोरेक योगाय व्यापारवत् स्याद्, वद्ध सत् परतन्त्र स्यात्, अपर तु निर्व्यापारमवद्ध स्वतन्त्रमवतिष्ठते । तत्र व्यापिनो व्याप्येऽनुग्रहो विभूति । यथाह—

"अम्भो लवणे वायौ व्योम, मुखे दर्पणे यद्वत् ॥
विभवति तद्वद् विरजा भूतग्रामेऽव्यय परम ॥१॥" इति

क्षरेष्वक्षरो विभवतीति नियमादिह व्यञ्जनेपु स्वरो विभवति । यथा 'ऋत्यर्क्‌ट्' शब्देऽकारश्चतुर्पु पूर्वेपु त्रिपु चोत्तरेषु व्यञ्जनेष्वालम्वनतया विभवन् दृश्यते ।१। क्षरेषु चान्यतरस्यान्यतरस्मिन् विभूति । यथा रामाणा वर्ष्मणामित्यत्र मूर्द्धन्ययो रपयो प्रयत्नमहिम्ना दन्त्यो नकारो मूर्द्धन्यतामापद्यते ॥२॥ अथैतेष्वेव स्थानेपु व्याप्यस्य व्यापिनि योग सश्लेप ॥ तमेकतो वन्धयोगमाचक्षते ।

"अम्भसि लवण, वायुर्व्योम्नि मुख दर्पणे यद्वत् ॥
श्लिष्यति तद्वद् विरजसि भूतग्रामोऽव्यये परमे ॥१॥"

एवमिह व्यञ्जनान्यवद्धे स्वरे सश्लिष्टानि वद्धानि ॥३॥ क्षराणा चैकस्यान्येन सश्लेप ॥ तत्र सश्लेपणाद्द्रव्ययोगादेकस्यान्येन वन्धनमात्र न त्वन्यस्मिन्नन्यस्यानुप्रवेश ॥ एतदभिप्रायेणैवाह भगवद्गीतायाम्—

"मया ततमिद सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सवभूतानि नचाह तेष्ववस्थित ॥६।४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥६।५॥
यथाकाशस्थितो नित्य वायु सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६।६ ॥इति॥

मत्स्थानीति सश्लेशात्मकमेकतो बन्धनमाह ॥

नचाह तेष्विति परस्य तत्राबन्धनमाह । न च मत्स्थानीति-समन्वयलक्षणानुप्रवेशप्रतिषेधमभिप्रैतीति विवेक्तव्यम् ॥*॥

(२) व्यञ्जनभेदात् सश्लेष-साप्तविध्यम् ॥

स हि सश्लेषो व्यञ्जनभेदात् सप्तविधो याज्ञवल्क्येन स्मर्य्यते ।

अथ सप्तविधा सयोगपिण्डा —

"यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्त स्थान् दारुपिण्डवत् ॥
अन्त स्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्ड विनिर्दिशेत् ॥१॥
अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ॥
अशरीर यम विद्यादन्त स्थ पिण्डनायकम् ॥२॥
ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान् ॥
सोपध्मान्वायुपिण्डांस्तु जिह्वामूले तु वज्रिण ॥३॥

अग्नि पत्वर्नीत्ययस्पिण्ड ॥१॥ अत्र पञ्चमापञ्चमयोर्मध्यवर्तिनो विच्छेदस्याशरीरत्वाद्विशेषानुपलब्धि ॥ सत्यम् । अश्व । विल्मिने । इति दारुपिण्ड ॥२॥ अनान्त स्थाना लघुप्रयत्नतरत्वादात्यन्तिक-सन्निकर्षेण पिण्डनायकत्वाद्विशेषानुपलब्धि ॥ अश्मन् । कृष्ण । गर्म्मे-इत्यूर्णापिण्ड ॥३॥ ब्रह्म । वह्नि । गृह्णामीति ज्वालापिण्ड ॥४॥ सस्थाम् । सश्रुस्तुप् । सिंह्यसीति-मृत्पिण्ड ॥५॥ द्यौष्पिता इति वायु-पिण्ड ॥६॥ इष्कृति —इति वज्रपिण्ड ॥७॥

(३) वीर्य्यभेदात् सपरिष्वङ्गद्वैविध्यम् ।

अथ वीर्य्यभेदात्सपरिष्वङ्ग स चान्योन्यतो वन्धनरूप । अक्षरस्याक्षरेण योग सपरिष्वङ्ग । यथाय शारीरको विज्ञानात्मा प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो भवति, एवमेक स्वर स्वरेणान्येन सन्धीयते । यथा नदीय भानूदय इत्यादौ स्वरद्वयसपरिष्वङ्ग । दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति दात्रस्ति, इत्यादिषु परस्वरेणेकारादीना योग ॥ तत्रेद त्रय सभाव्यते । दम्भनेन समञ्चन भवतीत्येकमात्रस्याद्धमात्रत्व निष्पद्यते ॥१॥ अथवा अन्योदरेऽन्याङ्गप्रवेशो भवतीत्यत इकारस्य षष्ठे विन्दावकारपञ्चमविन्दुसमावेशादिकारस्यार्द्धमात्रमवशिष्यते ॥२॥ अथवा सहितयोरुभयोरन्यतरस्य वाऽङ्गक्षत भवतीत्यत इकारस्याकारे युज्यमानस्य परमर्द्धमात्रमावृश्च्यते इति पूर्वार्द्धमात्रमवशिष्यते ॥३॥ एतेषु फलतो विशेषो न स्तीत्यस्तु यद्वा तद्वा ॥

"इग्यण सप्रसारणम्"—इति ब्रुवतो भगवत पाणिनेस्तु समञ्चने पक्षपात । समञ्चितस्यैव सप्रसारणसभवात् । अनुप्रविष्टस्य तूद्धरणमवक्ष्यत् । क्षतस्य वाऽनुसपत्तिमवक्ष्यत् । श्रुतिरपि समञ्चनप्रसारणयोरेवानुजानीते । श्रूयते हि सार्वायुषाग्निविद्यायाम्—

> **"अथात समञ्चनप्रसारणस्यैव । पशुरेष यदग्नि ।**
> **यदा वै पशुरङ्गानि सचाञ्चति प्र च सारयति ।**
> **अथ स तैर्वीर्य्य करोति । प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् ।**
> **यस्मिन्वा अङ्गे प्राणो भवति तत् सचाञ्चति प्र च सारयति"**॥इति।
>
> [शत० ८।१।१४]

एतेन परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि वाक्प्राणस्य समञ्चनप्रसारणाभ्यामेव व्यञ्जनस्वरसिद्धिरवकल्पते । तथाहि—व्यञ्जनाना सप्रसारणात् स्वरत्व सपद्यते । स्वराणा तु समञ्चनात् व्यञ्जनत्व भाव्यते ॥ तच्चेद समञ्चन स्वरद्वयसपरिष्वङ्गादियोगविशेषादेवोपपद्यते ॥

(४) योगभेदात् सधिर्द्वैविध्यम्

अथ सनिकर्षभेदात् सन्धिर्द्विविध । सक्रान्ति, सहिता चेति । तथाहि पूर्वोक्ता विभूति-सश्लेप सपरिष्वङ्ग-लक्षणास्त्रिविधा योगा शाब्दिकनये सन्धिशब्देनाख्यायन्ते । अथ तत्र विभूतिरेका व्यवायसहा भवति सा सक्रान्ति । सश्लेपसपरिष्वङ्गौ तु शब्दविद्याया सहितानाम्नाख्यायेते । यथाह कात्यायन प्रातिशाख्ये—

"वर्णानामेकप्राणयोग सहितेति ।।"

स चैक प्राण स्वरस्य क्रान्तिमण्डलमनुष्टुप्छन्द ।।

"प्राणा वै वा वयोनाधाश्छन्दासि वै देवा वयोनाधा –इति श्रुते । (शत० ८।१ प्र०।६ब्रा०) ।।

प्राणविशेषस्यैवावच्छेदकताया छन्दस्त्वसिद्धे एकप्राणयोगो व्यवायेऽपि सभवतीति तत्प्रत्याख्यानाय पाणिनि —**"पर सन्निकर्ष सहितेत्याह** । क पर सन्निकर्ष इति चेत् स्वारसिकार्द्धमात्राकाल मात्रव्यवायेनोच्चरण सहितेति केचिदाहु । तदसत् । अवग्रहादौ पदद्वय-योगेऽर्द्धमात्राकालप्रतिपत्तावपि वर्णद्वययोगे तावद्विच्छेदानुभवा-भावात् । तस्मादर्धमात्रातोऽप्यल्पकालोऽवकाश सहिता । द्वयो-र्वर्णयोर्वर्णान्तरेणाविच्छेद सहिता । वर्णान्तरान्तरितयोस्तु वर्णयो सनिकर्ष सक्रान्ति । सोऽय सक्रान्ति-सहिताभेदाद् द्विविध सन्धिर्व्याख्यात ।

(५) आश्रयभेदात् सधिर्द्वैविध्यम् ।।

अथ आश्रयभेदात् सन्धि पुनर्द्विविध । स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिश्च । स्वरसन्धि सहितायामेवोपपद्यते । न तु सक्रान्तिसन्निकर्षे व्यवायसहे । तत्रैकमात्रिकस्वरस्य पूर्वार्द्धमात्रा पञ्चमविन्दु, परार्द्धमात्रा षष्ठविन्दुरिति सज्ञायेते ।। तथा च पूर्वस्वरषष्ठविन्दो प्रत्ययस्वरपञ्चमविन्दुत्वापत्ति-रक्षरयो सहिता । स स्वरसन्धि ।। अन्याक्षरनिगृहीतव्यञ्जना-नामन्याक्षरेण निग्रहण व्यञ्जनसन्धि ।।*।।

(६) अथ वलभेदात् सन्धिद्वैविध्यम्

स्वरव्यञ्जनसन्धिभ्या वर्णगुणातिरेको भवति। अन्यथा सतोऽन्यथाभावोऽतिरेक। वर्णोपादानभूते वायौ वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्त्यनुकूल वल वर्णगुण। वल द्विविधम्। आरम्भक विशेपक च। वर्णस्वरूपोत्पत्तौ विनियुक्त वलमारम्भकम्। तत् पञ्चधा—स्वरोपधायकम् ॥१॥ अङ्गोपधायकम् ॥२॥ स्पर्शोपधायकम् ॥३॥ स्थानोपधायकम् ॥४॥ नादोपधायक चेति ॥५॥

स्वरोपधानाद्—अ अ अ—इत्यनुदात्तस्वरितोदात्तभेदादकारत्रैविध्यम् ॥१॥ अङ्गोपधानाद्—अ आ आ ३। इत्येतेषा ह्रस्वदीर्घप्लुतानामेकैकाक्षरत्वम् ॥ व्यञ्जनाना च स्वराङ्गत्व स्वरोच्चारणाधीनोच्चारणत्वम्, सव्यञ्जनस्वरस्यैकाक्षरत्व च ॥२॥ स्पर्शोपधानाद्-अ ऽ अ ङ ग क ह—इत्यादयो धारा ॥३॥ स्थानोपधानात्-अ इ उ ऋ लृ—इत्यादयो धारा ॥४॥ उपांशुवाग्रूपाया मध्यमाया वाचि नादोपधानाद् ध्वनिप्रसङ्गाद् वैखरी वाक् प्रवर्तते ॥५॥

अथैतेष्वेव पञ्चसु वलेषु विनियुक्त वल विशेपकम्। तत् पञ्चधा-उपजनकम्॥१॥ उपघातकम्॥२॥ विक्षेपकम्॥३॥ विशेपाधायकम्॥४॥ निरोधक चेति ॥५॥

प्रयत्नोपजनाद् वर्णागम। प्रयत्नोपघाताद् वर्णलोप। प्रयत्नविश्लेपाद् वर्णविपर्यय। विशेपाधानाद् वर्णादेश। एपा चतुर्णा निरोधात् प्रगृह्यत्वम्। तच्च विकारप्रतिवन्धात् प्रकृतिभाव -स्वरूपेणावस्थानम् ॥

इत्थ चारम्भकवले विशेपकवलतारतम्यानुरोधाद् व्यवेतस्याव्यवेतस्य वा वलवतो व्यञ्जनस्य गुणै प्रतिवाधिता दुर्वलस्य गुणा निवर्तन्ते।

आक्रममाणाश्च वलवद्गुणा स्थान लभन्ते। तेनैतानि पञ्चविधानि सन्धिफलानि जायन्ते : यथाहु —

"वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तथादेश इमे विकारा ॥
स्थिति प्रकृत्येति च पञ्च सन्धे फलानि वर्णद्वयसंनिकर्षे ॥१॥"

१- आगमो यथा ॥

सयोगविभागशब्देभ्य शब्दोत्पत्तिमाह भगवान् कणाद ॥ तथाच—स्वरपूर्वो नासिक्येतर स्पर्श पदान्तोऽवसानेऽपदान्तश्च व्यञ्जनप्रत्यये पूर्वस्वरेणाक्रान्तो भवति ॥ तत्र पूर्वस्वरोऽभिक्रमते ॥ तेन बलवत्सयोगजवर्णसदृश प्रतिध्वनिरूपो विभागजो वर्णं प्रादुर्भवति स क्रमजो नामोपजन पराङ्ग स्यात् ॥

यत्या विच्छिद्योच्चारणहेतुभूत पूर्वस्वरेण निग्रहण क्रमणम् ॥ रामात्त् । वत्त्स । आत्त्मा । सत्त्यम् । शक्क्र । आतनच्च्मि । सज्ज्मा ।१।

हकारपरत्वे क्रमजस्य पराङ्गत्वेन तद्योगात् सोष्मवर्णसिद्धि । वाग्घस्ती । षड्ढस्ती । तद्धस्ती । ककुब्भस्ती ।।२।।*।।

ङणनाना तु ह्रस्वस्वरपूर्वाणा स्वरोदयत्वे स उपजन पराङ्गम् ॥ प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीश । सन्नच्युत ।।३।।

स्वरभक्त्युदयत्वेऽप्यसति विरोधे स्वरोदयवत् सन्धिफलम् । अस्ति ह्यूष्मणा स्वरभक्त्यारब्धत्वम् । अर्श । आर्षम् । अर्ह् । ह्लाद । ह्लाद । श्च्योतते । स्त्यानम् । स्त्री । ष्टेशन । स्थिति । इत्यादि-पूष्मोच्चारणात् प्राक् स्वरभक्त्या अकारेकाराद्यात्मन आभासमानत्वात् । *तेन प्राङ्क्षष्ठ । सुगण्ट्षष्ठ । सन्त्स । सञ्छम्भुरित्यादौ* क्रममाणाना ङणनाना विभागजोपजना ङणना एव जायन्ते । किन्तु तेषा पराङ्गतया तेभ्यो नासिक्यतापादकयत्नो निवर्तते । सनिकृष्टानामुष्मणा नासिक्यप्रतिपन्थिगुणशालितया तेन नासिक्यगुणस्य प्रतिरुद्धत्वात् ।४।

सकारस्य नित्यदन्तस्थानत्वेन विवक्षया प्रगृह्यत्वम् ॥ तत्र दन्त्यतागुणप्राबल्यात् तत्प्रत्ययत्वोपजातस्य टस्य दन्त्यत्वम् ॥ षट्त्सुखिन । षट्त्सन्त ।५।

स्वरपूर्वाभ्या रहाभ्या परस्मिन् हभिन्नेऽनुष्मान्तस्योदये व्यञ्जने

पूर्वस्वर क्रमते न क्रमते वा। तर्क , स्वर्ग , गर्ज , ब्रह्म, न ह्यस्ति। उच्चारणातिरेकोऽयमैच्छिक साप्रदायिको वा द्रष्टव्य । उष्मान्त स्थपरत्वे तु न क्रमते। कात्स्न्यंम्। स्वर्ग्यम् ॥६॥

छकारेतरसोष्मस्पर्शे पराङ्गत्व प्रवलमिति नात्र पूर्व स्वर क्रमते। मख । मघा। शठ । अथ। वध । मभा। छकारे तु पराङ्ग-स्पर्शे निसर्गात् पूर्वस्वरोऽपि क्रमते—इति क्रमजश्चकारोऽयमुष्मणा युज्यते। स्वच्छाया। शिवच्छाया। विच्छिद्यते। पदान्तदीर्घस्वरात्तु पदान्तयत्या विच्छेदादिद क्रमण निवतते, अनुवर्तते वा। ना च्छाया आच्छादयति। माच्छिदिदित्यादौ त्वैकपद्यविवक्षेति न विकल्प ।७।

यद्यपीदमुपजनवैचित्र्य व्यञ्जनद्वयसधाने व्यञ्जनगुणप्रकृति-निवन्धनमेवोपपद्यते, तथापि तादृशप्रकृत्यनुकूलमुच्चारणमुच्चारयितृ सप्रदायविशेषादेवोपकल्पते। आच्छादयति माच्छिदिदित्यादौ चकारो-पजनस्य साप्रदायिकोच्चारणप्रक्रयैवोपपन्नत्वात्। क्वचित्पुनरेष क्रमजो-पजनो विवक्षाधीनो नैकान्तिक । क्रमणस्योच्चारणविशेषाधीनतया साप्रदायिकत्वात्।

अतएव दीर्घाद् द्वित्व नास्तीत्याचार्य्य उपवर्षो मन्यते। इन्द्र राष्ट्रमित्यादौ ह्यधिकव्यञ्जनयोगे द्वित्व नास्तीति शाकटायन । सर्वत्र-द्वित्व नास्तीति शाकल्य । एते च क्रमजोपजना 'साप्रदायिका अपि वर्णप्रकृतिसापेक्षा सन्तीत्याख्याता ॥

केचित् पुनवर्णप्रकृतिनिरपेक्षा केवल भाषाव्यवहर्तृप्रकृतिसापेक्ष-तया व्यवहारविशेषादागमा भवन्ति। यथा—

"विश्ववाड्मुड्ढुगित्यादौ हकारात् प्राग्डगागम ॥
गर्भ उद्ग्राभनिग्राभौ सजभारेति वागम ॥१॥

ईरेरिणौरादौ अकारागम स्वैर स्वैरी। तृतीयासमस्तस्याकारा-दृऋते, "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे" उपसर्गाचाकारान्ताद् ऋकारादिधातुवृत्तेष्वकारागम ।

सुखेन ऋत सुखार्त ॥ प्रार्णम् । प्राच्छंतीत्यादि । ते चैते पदनिब-न्धना उपजना इहोपेक्ष्यन्ते ॥१॥

२. अथ लोपः।

प्रयुगमिति वक्तव्ये उच्चारणदोषाद् यलोप । प्रउगम् ॥१॥

उत् स्निगिति वक्तव्ये उदो दलोप । उष्णिक् ॥२॥

"उद स्थास्तम्भोः प्रयत्नोपघातात् सलोप ।" उत्थानम्। उत्तम्भ-नम् ॥३॥

अवसाने "सयोगान्तस्य लोप " । अथशब्दे थकाराकारस्य विपर्य्य-यात् पदादित्वे पदान्तस्य ह्रस्य प्रयत्नप्रतिबाधाल्लोप । आत् । स्वतन्त्र-निपातत्वे पर्य्यायपरिवृत्तिसहोऽयम् ।

"आद्रात्री वासस्तनुते"—इत्यत्र अथ रात्रीति वक्तु शक्यत्वान् । पञ्चमीविभक्तिनिपातत्वविवक्षाया त्वय पर्य्यायपरिवृत्यसहो भवति देवात् । स्मनिपातेन सयुक्त्वे यस्मात्तस्मादित्यादौ सर्वनामान्तस्तकार प्रयत्नक्लेशाल्लुप्यते ॥४॥

व्यञ्जनादुत्तरेषा नासिक्यान्तस्थाना नामिक्यान्तस्थपरत्वे लोप ॥ शय्या—इत्यत्र प्राकृतयोर्यकारयोरेक क्रमजे तृतीये यकारे विलुप्यते॥ अदितेरपत्यमादित्य इत्येको यकार स क्रमजे यकारे विलुप्यते। आदित्यदेवताक स्थालीपाक आदित्य इति द्वौ यकारौ, तौ क्रमजे तृतोये विलुप्येते ॥ सख्यातानुदेशान्नेह-तन्म्नानम ॥५॥ .

नासिक्यान्तस्थेतरेषा तु व्यञ्जनादुत्तरेषा सवर्णव्यञ्जनपरत्वे लोप । मरुत्त, प्रत्तमवत्तम् इतिद्वयोस्तकारयोरेक क्रमजे तकारे लुप्यते । नेह सख्यातानुदेश । तेन शिण्ढि, पिण्ढि—इति ढकारे डकारो लुप्यते । ग्रन्थ् धातोस्तुप्रत्यये तलोपाद्ग्रन्थुरित्यादयोऽप्युन्नेया ॥६॥

इ ए परस्य यस्य, उ ओ परस्य वस्यानभिव्यक्ति । नरयीश्वरो नर ईश्वर । योयायीश्वर, योन्या ईश्वर । भो एको, भोयेक । हरयेक हरएक । त्वोतास तोतास. । इत्येतेषु द्वयोर्द्वयो साम्येनोच्चारणम् । "अत्र "व्योर्लघुप्रयत्नतर शाकटायनस्य" ॥१॥ "लोप शाकल्यस्य ॥२॥" "ओतो गार्ग्यस्य ॥३॥" इति त्रय सप्रदायभेदा ॥ भोयेको हरयेक

इत्युभयत्र यकारस्य स्वरधर्म्मितया श्रवण शाकटायनो मन्यते। भोएको हरएक —इत्युभयत्राश्रवण शाकल्यो मन्यते ॥ गार्ग्यस्तु भो एक इति लोप, हरयेकइति लघुप्रयत्नतरयकार पश्यति ॥७॥

त्र्यृचशब्दे रयानभिव्यक्तिर्लोके, छन्दसि तु लोप-तृचम्। त्र्यृपिरिति रयानभिव्यक्ति ॥८॥

३- अथ विपर्य्ययः।

अक्षवाहिनी, प्रवाह, प्रवाढ प्रवाढोति प्राप्ते वाऽक्षरविशकलनात् सिद्धानाम्—उ अ अ—इत्येतेपा विपर्य्ययेण सन्धौ अक्षौहिणी-प्रौह-प्रौढ-प्रौढिसिद्धि ॥१॥

स्थिरशब्दोष्मण स्वरभक्तेर्विपर्य्ययेण सकारादुत्तरत्वे प्रयत्नदोपात् सस्वरभक्त्योस्तालव्यत्वे शिथिरशिथिलशब्दसिद्धि। अथवा श्रथश्लथान्त स्थयोर्विपर्य्ययेण शथर-शथल सपत्तौ प्रयत्नदोपादिकारद्वयोपनिपात। शिथिर शिथिल ॥२॥

पश्यकशब्दे पकयोर्विपर्य्ययेण कश्यपत्वम् ॥ शययोर्विपय्ययेण जाते प्रयत्नप्रतिबाधेन यकारस्य स्पर्शोत्कर्पाञ्जत्वचत्वाभ्या शस्य तु स्पर्शोत्कर्पाच्छत्वे कच्छपशब्दो निर्वृत्त ॥ कशामर्हति कश्योऽप्येव कच्छोऽभवत् ॥३॥

अथशब्दे पदान्ताकारस्य पदादित्वेन विपय्यये आच्छब्दो निपात ॥४॥

एवपदादे सन्ध्यक्षरस्य पदान्तत्वविपर्य्यये वैशब्दसिद्धि ॥५॥

अनश्व इति अन् शब्दो नविपर्य्ययसिद्ध ॥६॥

कृती छेदने इत्यस्मात् उप्रत्यये कर्तुरिति वक्तव्ये ककार-तकारयोर्विपर्यासे तर्कुरिति, तुशब्दे तकारोकारयोर्विपर्यासे उत् इति भृधातोर्मनिन्प्रत्ययान्निष्पन्ने भर्मन् शब्दे बकारोत्तरवर्तिनो हकाररे-

फयो स्थानविपर्यासे ब्रह्मन् इति, ओम् शब्दे अ उ म् इत्येतेषु वर्णेषु अकारस्य उकारस्य च विपर्यासे वम् इति च निष्पद्यते। तदुक्तम्-

"ओमोऽकारोकारयोर्वम् परस्परविपर्ययात् ॥
भर्मणो हरयोर्ब्रह्म परस्परविपर्ययात् ॥१।८॥
बहोर उत्वमेत् सोऽभूद्धातपरो भूरभूवयम् ॥
धातुस्ततोऽभूद् भूभूंमिभूंमा भूयान् बहु ब्रुजन् ॥२।८॥
निर्ग्रन्थुशब्दे रहयोर्निघण्टु स्याद् विपर्ययात् ॥
विक्षेपात् तरयोरेकबिन्दुत्वे स्पर्शनद्रुते ॥३।१०॥

४- अथ आदेशः ।

आरम्भके बले यत्र विशेषकबलोदयात् ॥
लोपागमविपर्यासबलाना स्यु समुच्चयात् ॥१॥
गुणाना कस्यचिन्नाश कस्यचिच्चागम सह ॥
कस्यचिद्वा विपर्यासस्तमादेश प्रचक्षते ॥२॥

विशेषकवल तावन्नानाविध भवति। तस्य प्रत्येकबलस्य तारतम्यात् पुनरत्र नानाविध्य प्रवर्तते। तद्यथा गतिरेक बलम्। तत्र द्रुतिसमस्लुतयो विशेषा स्यु। उर कण्ठ शिर इति त्रीणि सवनस्थानानि। तत्प्रापक बल स्वरोपधायक नाम। तत्र विशेषकबल-तारतम्याद् विशेषा। यथा उदात्तस्वरितयो प्रकृतत्वे द्रुतिगत्याऽनुदात्तत्वम्। अनुदात्तोदात्तयो समगत्या स्वरितत्वम्। अनुदात्तस्वरितयो प्लुतिगत्योदात्तत्वम्। अथ मन्थारणमन्यद्वलम्। तेन स्वरोपधाने प्रतिसवन द्वौ द्वौ विशेषौ—निगृहीतमुद्गृहीत च। तथा च सन्नतरानुदात्तौ। स्वरितप्रचितौ। उदात्तोदात्ततराविति षट् स्वरा स्यु। उरसि नीचै सन्नतरो निघात। उरस्येवोच्चैरनुदात्त। कण्ठे नीचै स्वरित। तत्रैवोच्चै प्रचित। शिरसि नीचैरुदात्त। तत्रैवोच्चै-रुदात्ततर ॥

शिर	❀	उदात्ततर ——————१
	❀	उदात्त ———————२
कण्ठ	❀	प्रचित ———————३
	❀	स्वरित ——————४
उर	❀	अनुदात्त ——————५
	❀	निघात (सन्नतर)–६
नाभि	❀	

तारतम्यकृतविशेषानपेक्षायां तु त्रय एव ते स्वरा उपपद्यन्ते। तथा चाह—

॥ उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा ॥१॥

अथाङ्गोपधायके बलेऽभिव्याप्तिरेकं विशेषकबलम्। तत्रावच्छेदतारतम्यं मात्रा नामान्यद्बलमनुवर्त्तते। तथा चैकमात्रो ह्रस्वः। द्विमात्रो दीर्घः। त्रिमात्रः प्लुतः। तदेकं छन्दः। स्वरमात्रमक्षरम्। अथवा व्यञ्जनेनैकेन, द्वाभ्यां, त्रिभिः, चतुर्भिः, पञ्चभिः, षड्भिः सप्तभिर्वाऽवच्छिन्नमक्षरमित्यन्यच्छन्दः ॥२॥

अथ स्पर्शोपधाने विवृत[1] मन्द[2] दुर्योग[3] द्विस्थानिक[4] मृदु[5] तीव्रा[6]-ऽर्द्धसम भेदात् सप्त विशेषाः। समसामुरयेनावस्थितयोः स्थानकरणयोर्म्मध्येऽवगुण्ठितेन वर्णोपादानभूतप्राणवायुना स्पर्शप्रतिबन्धो विवृतम् ॥१॥ स्थानकरणयोरस्पृष्टयोरेव स्पर्शोन्मुखत्वप्रयत्नतः स्पर्शमान्द्यम् ॥२॥ तत्रैवात्यल्पमात्रया स्पर्शप्रसक्तौ दुर्योगः। स च करणवैषम्यात् स्पर्शाऽस्पर्शः ॥३॥ मुखस्थानस्पृष्टस्योपरिष्टान्नासानाडीस्पर्शो द्विस्थानिकत्वम् ॥४॥ मृदुस्पर्शाद् गजडदबाः ॥५॥ तीव्रस्पर्शात् क च ट त पाः ॥६॥ अर्द्धसमत्वं सस्वरभक्तिकत्वादंशतो विवृतमंशतः स्पर्शः ॥७॥ तदित्थमेषां विशेषकबलानां प्रत्यासत्या स्पर्शतारतम्यं घटत इति वर्णान्तरादेशः। यथा—इ उ ऋ लृ—इति नामिनः स्वराः। तेषां विवृतप्रयत्नानां स्थानेऽन्तरतमा ईषत्स्पृष्टा अन्तस्था असवर्णस्वरपरत्वे। दिव्यस्ति। मध्वस्ति। पित्रागमः ॥३॥

स्थानोपधायके च द्रुतिसमस्रुतयो विशेषा । द्रुतिगत्या प्रथमस्थाने कण्ठे, समगत्या मध्यमस्थाने तालुमूर्द्धदन्तान्यतमे, स्रुतिगत्योत्तमे स्थाने ओष्ठे स्थानोपधायकवलस्यावपातः । मध्यमेऽपि समद्रुत्या तालुनि । समसाम्यान्मूर्द्धनि । समस्रुत्या दन्तेऽवपात । द्रुत्या तस्य क —शुष्क । स्रुत्या च तस्य व —पक्क । समसाम्यात् तस्य ट - कुष्ट ॥ एकस्थानिकस्य द्विस्थानिकत्वसाधनात् तस्य न —वृक्ण, हीन । स्रुत्या द्विस्थानिकत्वसाधनाच्च क्षाम ॥४॥ क्वचित्तु स्थानवलस्पशवलयोरुभयोरपि विशेषाधानात् सिद्धि ॥ यथा—सरयोरघोषपरत्वेऽवसाने च विसर्ग । उच्चै पुन पुन ॥१॥ अकारात्पर सो हत्वमापद्योत्वमापद्यते अकारघोषपरत्वे । देवोऽस्ति, देवो गत ॥२॥ आकारात्तु सस्य हत्वमापन्नस्य विवृत्ति स्वरघोषपरत्वे । यथा-देवा गच्छन्ति, देवा हसन्ति, देवा आयान्तीत्यादौ । इकारादिभ्य स्वरेभ्य परस्तु स रेफतामापद्यते स्वरघोषपरत्वे ।॰ यथा-हरिरय, हरिर्गत । भानुरय, भानुर्गत । उच्चैरय नीचैर्गत ॥४॥ स्वरेभ्यो रसयोरघोषपरत्वे तदघोषस्थानीयोष्मा । शिव ≍ करोति । हरिश्चिनोति । भानुष्टीकते शनैस्तन्वते । उच्चैः ≍ पठति ॥५॥ इत्येवविधेष्वादेशविकारेषु वर्णगुणा लुप्यन्ते विपर्य्ययन्ते वा इत्यूह्यम् ॥

अथ प्रकृतिभाव:

यस्य स्वरूपमेव दर्शयितुमिष्यते । स प्रकर्षेण गृहीतत्वात् प्रगृह्य । स हि सत्यपि विकारनिमित्तप्रत्यासत्तौ प्रगृहीतत्वादेव न स्वरूपाच्च्यवते । न विकार गृह्णाति । ई ऊ ए—द्विवचन प्रगृह्यम् । हरी एतौ, विष्णू इमौ । द्रव्ये इमे । ईषदर्थमवध्यर्थमाकार त्यक्त्वा एक स्वरो निपात प्रगृह्य । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ । ओकारान्तो निपात प्रगृह्य । अहो ईशा विवक्षानिबन्धनोऽय प्रकृतिभावो यथाविवक्ष द्रष्टव्य ॥

इति श्रीमधुसूदन-विद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे सन्धिप्रभेदपरिष्कार पञ्चम प्रपाठ ।

—

पथ्यास्वस्ति

हिन्दी व्याख्या

१ वेद में वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। अत पथ्यास्वस्ति शब्द का अर्थ वर्णमातृका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि[1] शब्द-ब्रह्म के ज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता, अत परब्रह्म-रूपी अक्षर (अविनाशी) तत्व के ज्ञान के लिए विज्ञानतत्पर श्रीमधुसूदन भा यहाँ शब्द-ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं।

अनेक प्रकार का वर्णाक्षर-समाम्नाय लोक में प्रसिद्ध है। उनमें से यहाँ वैदिक वर्णमातृका का प्रधानतया निरूपण किया जा रहा है।

ओष्ठो से ढकी हुई, दातो से परिवेष्टित सारे वर्णों को उच्चारण करने में समर्थ वज्ररूपा यह नकुलाकारिणी जिह्वा मुझे सुन्दर शब्दो का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करे।

वर्णसमाम्नाय (वर्णमातृका) नित्य है। उसकी उत्पत्ति नही होती, स्थान-प्रयत्न-सयोग से उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इसीलिए महाभाष्य-कार पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस उक्ति के द्वारा शब्दो को, अर्थो को, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बतलाया है।

२ (१) समान प्रयत्न वाले तथा भिन्न स्थान वाले वर्ण —

अ	इ	ऋ	ऌ	उ
ऽ	य	र	ल	व
अ	य	ड	ळ	व
ग	ज	ड	द	ब
क	च	ट	त	प
ह	श	ष	स	ह्

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति॥ मु उ

स्थानोपधायके च द्रुनिमप्लुतयो विशेषा । द्रुतिगत्या प्रथमस्थाने कण्ठे, समगत्या मध्यमस्थाने तालुमूर्द्धदन्तान्यतमे, प्लुतिगत्योत्तमे स्थाने ओष्ठे स्थानोपधायकवलस्यावगात । मध्यमेऽपि समद्रुत्या तालुनि । समसाम्यान्मूर्द्धनि । समप्लुत्या दन्तेऽवपात । द्रुत्या तस्य क —शुष्क । प्लुत्या च तस्य व —पक्व । समसाम्यात् तस्य ट-कृष्ट ॥ एकस्थानिकस्य द्विस्थानिकत्वसाधनात् तस्य न —वृक्ण, हीन । प्लुत्या द्विस्थानिकत्वसाधनाच्च क्षाम ॥४॥ क्वचित्तु स्थानबलस्पर्शग्लयोरुभयोरपि विशेषाधानात् सिद्धि ॥ यथा—सरयोरघोषपरत्वेऽवसाने च विसर्ग । उच्चै पुन पुन ॥१॥ अकारात्पर सो हृत्वमापद्योत्वमापद्यते अकारघोषपरत्वे । देवोऽस्ति, देवो गत ॥२॥ आकारात्तु सस्य हृत्वमापन्नस्य विवृत्ति स्वरघोषपरत्वे । यथा-देवा गच्छन्ति, देवा हसन्ति, देवा आयान्तीत्यादौ । इकारादिभ्य स्वरेभ्य परस्तु स रेफतामापद्यते स्वरघोषपरत्वे । यथा-हरिरय, हरिर्गत । भानुरय, भानुर्गत । उच्चैरय नीचैर्गत ॥४॥ स्वरेभ्यो रसयोरघोषपरत्वे तदघोषस्थानीयोष्मा । शिव ⁔करोति । हरिश्चिनोति । भानुष्टीकते शनैस्तन्वते । उच्चै ⁔पठति ॥५॥ इत्येवविधेष्वादेशविकारेषु वर्णगुणा लुप्यन्ते विपर्य्ययन्ते वा इत्यूह्यम् ॥

अथ प्रकृतिभावः

यस्य स्वरूपमेव दर्शयितुमिष्यते । स प्रकर्षेण गृहीतत्वात् प्रगृह्य । स हि सत्यपि विकारनिमित्तप्रत्यासत्तौ प्रगृहीतत्वादेव न स्वरूपाच्च्यवते । न विकार गृह्णाति । ई ऊ ए—द्विवचन प्रगृह्यम् । हरी एतौ, विष्णू इमौ । द्रव्ये इमे । ईषदर्थमवध्यर्थमाकार त्यक्त्वा एक स्वरो निपात प्रगृह्य । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ । ओकारान्तो निपात प्रगृह्य । अहो ईशा विवक्षानिबन्धनोऽय प्रकृतिभावो यथाविवक्ष द्रष्टव्य ॥

इति श्रीमधुसूदन-विद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे सन्धिप्रभेदपरिष्कार पञ्चम प्रपाठ ।

पथ्यास्वस्ति

हिन्दी व्याख्या

१ वेद में वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। अत पथ्यास्वस्ति शब्द का अर्थ वर्णमातृका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि[1] शब्द-ब्रह्म के ज्ञान के विना परब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता, अत परब्रह्म-रूपी अक्षर (अविनाशी) तत्त्व के ज्ञान के लिए विज्ञानतत्पर श्रीमधुसूदन भा यहाँ शब्द-ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं।

अनेक प्रकार का वर्णाक्षर-समाम्नाय लोक में प्रसिद्ध है। उनमें से यहाँ वैदिक वर्णमातृका का प्रधानतया निरूपण किया जा रहा है।

ओष्ठो से ढकी हुई, दातो से परिवेष्टित सारे वर्णो को उच्चारण करने में समर्थ वज्ररूपा यह नकुलाकारिणी जिह्वा मुझे सुन्दर शब्दो का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करे।

वर्णसमाम्नाय (वर्णमातृका) नित्य है। उसकी उत्पत्ति नही होती, स्थान-प्रयत्न-सयोग से उनकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस उक्ति के द्वारा शब्दो को, अर्थो को, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बतलाया है।

२ (१) समान प्रयत्न वाले तथा भिन्न स्थान वाले वर्ण —

अ	इ	ऋ	लृ	उ
ऽ	य	र	ल	व
अ	य	ड	ळ	व
ग	ज	ड	द	व
क	च	ट	त	प
ह	श	ष	स	ह

---

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥ मु उ

३ (२) ममान स्थान वाले तथा भिन्न प्रयत्न वाले वर्ण —

अ	ऽ	अ	ग	क	ह्
इ	य	य	ज	च	झ
ऋ	र	ड	ड	ट	ष
लृ	ल	ळ	द	त	स
उ	व	व	व	प	ह्

इस प्रकार वदिक वर्णमातृका के अनुसार ३० शुद्ध वर्ण हैं। इनमे हकार का उच्चारण कही कण्ठ-स्थान से तथा कही ओष्ठ-स्थान से होता है। अत स्थान-भेद से उसके दो भेद होने पर भी उच्चारण में कोई भेद नहीं है। अत 'ह्' वर्ण एक ही है इस दृष्टि से शुद्ध वर्ण २९ हैं।

समान प्रयत्न वाले तथा दो स्थानों वाले वर्ण —

४ अँ	इँ	ऋँ	लृँ	उँ—अस्पृष्ट अनुनासिक
०	यँ	०	लँ	वँ—ईषत्स्पृष्ट अनुनासिक
ङ	ञ	ण	न	म—स्पृष्ट अनुनासिक

इस प्रकार अनुनासिक वर्ण १३ हैं। इस प्रकार, प्राकृतिक निरूढ (प्रसिद्ध) वर्ण ४२ हैं। इससे भिन्न वर्ण इन्ही वर्गों के विकार हैं जैसे यौगिक तथा अयोगवाह वर्ण।

५ यौगिक वर्ण स्वर-व्यजन-भेद से दो प्रकार के हैं। दीघ और प्लुत आ, ई, ऊ, ॠ, ए, अय्, ऐ, आइ, ओ, अव्, औ, आउ ये १६ यौगिक स्वर हैं। ये प्रत्येक यौगिक स्वर शुद्ध तथा अनुनासिक-भेद से दो प्रकार के है। अत ३२ यौगिक स्वर होते हैं।

६ वर्गों के द्वितीय वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ तथा चतुथ वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ तथा ढ और ळ्ह्-ये १२ मायौगिक व्यजन है। जिनम उप्म हकार तथा शुद्धस्पश-वर्णों का योग है। इम प्रकार मिला कर ३२ + १२ = ४४ यौगिक वर्ण हैं।

७ इनके अतिरिक्त कुछ अयोगवाह वर्ण और हैं। अयोगवाहो मे स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसग, औरस्य उप्मा, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यमो की गणना है। इनमे ऋ, लृ, इ—ये तीन स्वरभक्तिया हैं। आ॒ ई॒ ऊ॒ ये तीन रग वर्ण कहलाते हैं।

अं अः ये दोनो क्रमश अनुस्वार व विसग कहलाते हैं ।

१ ह्ल ह्न—ये औरस्य उष्मा कहलाते हैं ।

⌣क ⌣ इनमे क और प मे पूर्व अर्धविसर्गसदृश चिह्न क्रमश जिह्वा-मूलीय व उपध्मानीय कहलाता है ।

कुं खुं गुं घुं ये चार यम कहलाते है ।

उपर्युक्त रीति से अयोगवाह ११ हैं ।

स्वरभक्ति

८ ऋ और लृवर्णो मे क्रमश रेफ और लकार के चारो तरफ स्वरभक्ति है। याज्ञवल्क्य ने शिक्षा मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। जैसे—

"ऋलोर्मध्ये भवत्यर्द्धमात्रा रेफलकारयो ।
तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे ।।"

अर्थात् ऋ और लृवर्णो मे क्रमश आधी मात्रा रेफ और लकार की है और ये ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। अत ऋ और लृ को अकारादि वर्णो की तरह अस्पृष्ट नही माना जा सकता। ऋकार और लृकार मे विद्यमान स्वरभक्ति का सम्प्रदायभेद से चार प्रकार मे उच्चारण किया जाता है। कुछ व्यक्ति उस स्वरभक्ति का अकार के समान उच्चारण करते है, जैसे ऋषि का रषि। प्राच्य लोग इकार के समान जैसे ऋषि = रिषि। उदीच्य लोग उकार के समान जैसे ऋषि—रुषि। और माध्यन्दिन-शाखा वाले उसका एकार के समान उच्चारण करते हैं जैसे ऋषि—रेषि। इसीलिए "ऋकारस्य तु सयुक्तासयुक्तस्याविशेषेण मत्रैवम्" इस प्रतिज्ञा-सूत्र मे तथा "२ऋकारो हल्वियुग्युक् च सैकारश्छदसि स्मृत" इस केशवी के वचन मे ऋकार की स्वरभक्ति का एकार के

१ तत्र द्वावौरसौ ह्व इति ह्य इति, इस प्रकार याज्ञवल्क्यशिक्षा मे ह्व तथा ह्य को ही औरस्य उष्मा बतलाया है न कि ह्ल व ह्न को किन्तु यहा भी 'ह्व' अन्तस्थों का तथा 'ह्य' पञ्चम वर्णो का बोधक है। अर्थात् य, र, ल, व, इन अन्तस्थ वर्णो के साथ वर्गो के पञ्चम वर्ण ङ, ञ, ण, न, म, के परे होने पर उससे पूर्ववर्ती हकार उरस्थानीय होता है। इसीलिए टीकाकार श्रीअमरनाथ दीक्षित ने याज्ञवल्क्योक्त उपर्युक्त ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए कहा है—वर्गपञ्चमैरन्तस्थाभिश्च युतो द्विविधो हकारो ह्वसदृशो ह्यसदृशश्च औरसो ज्ञेय । या शि पृ १५२

२ ऋवर्ण जैसे हल (व्यञ्जन) से सयुक्त हो या वियुक्त, वेद में उसका उच्चारण एकार का होता है।

समान उच्चारण बतलाया है। जैसे कृष्ण—क्रेष्ण, ऋत्विय =रेत्विय, क्लृप्त= क्लेप्त। इन सूत्रों मे इकार व उकार के समान उच्चारण का निषेध किया है। उपर्युक्त रीति से अ, इ, उ, ए ये चार अर्धमात्रिक स्वरभक्तिया सम्प्रदायभेद से है। इनके उच्चारणमात्र मे सम्प्रदायभेद मे भेद हैं। लिपि सभी मतों मे समान है-ऋ, लृ। क्योकि उच्चारण के अनुसार लिपि का भेद नही बन सकता। अकारादि उच्चारण के समान लिपि मे भेद करने पर ऋ के स्थान मे र, रि, रु या रे लिपिया होगी और इन लिपियो मे अकारादि स्वर एकमात्रिक हैं जब कि ऋकार और लृकार मे विद्यमान स्वरभक्ति [1]अर्धमात्रिक है। अर्धमात्रिक का उच्चारण तो बन सकता है पर लिपि म अर्धमात्रिक अकारादि की पृथक् लिपि नही है। अत लिपि मे ऋ लृ ही लिखे जाते है। लृकार के उच्चारण मे प्राय लकार के बाद रेफ का उच्चारण और करते है। जैसे लृलि्। पर यह सगत नही है क्योंकि लृ मे केवल लकार और स्वरभक्ति ही है न कि रेफ।

६ ऌ भी स्वरभक्ति है। ऌ मे रेफ लकार का भी बोधक है और हकार उष्म वर्णों का बोधक है। अत यह सिद्ध होता है कि र और ल से उष्म-वर्ण के परे होने पर दोनो के बीच म स्वर के समान एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वर-भक्ति कहते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा में लिखा है—

> "रलाभ्या पर उष्माणो यत्र तु स्यु स्वरादया।
> स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते॥ १॥
> स्वरभक्ति प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान्परिवर्जयेत्।
> इकार चाप्युकारञ्च ग्रस्तदोष तथैव च॥ २॥

अर्थात् र और ल से परे उष्म-वर्ण श, ष, स हों तथा उनसे परे कोई स्वर हो तो वहा दोनो के बीच अर्ध अकार की तरह एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वरभक्ति कहते हैं। इस स्वरभक्ति का उच्चारण पूर्व वर्ण रेफ के साथ होता है। स्वर-भक्ति का प्रयोग करने वाला इकार, उकार तथा स्थान-करणनिष्पीडनरूप सवृतता इन तीन दोषो का परित्याग करे। अर्थात् स्वरभक्ति का उच्चारण न अर्ध इकार की तरह, न अर्ध उकार की तरह और न स्थान व करण का निष्पीडन

---

[1] 'स्वरभक्ति' शब्द का अर्थ ही स्वर का भाग है न कि पूर्णस्वर। अत वह अर्धमात्रिक ही होती है न कि अकारादि स्वरों की तरह एकमात्रिक।

करते हुए करे अपि तु अर्ध अकार या एकार की तरह करे। इसीलिए—"[1]अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहल सयुक्तस्योष्मऋकाररेकारसहितोच्चारणमेव तृतीयान्तस्थस्य" इस कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र मे स्वरभक्ति का उच्चारण एकार की तरह बतलाया है। इसी प्रकार '[2]अहल् शल्यूर्ध्वरेफस्य मेकार प्राक् च' इस नवाङ्कसूत्र मे, '[3]विहल् शल्यूर्ध्वरेफो य सेकार प्राक समुच्चरेत्' इस केशवी-वचन मे '[4]रेफो रेकारमाप्नोति शषसहेषु परेषु च' इस माध्यन्दिनीय वचन मे भी यही बात बतलायी गयी है।

"रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र" इस प्रातिशाख्य के अनुसार रेफ और लकार से परे उष्म-वर्णों के होने पर दोनो के मध्य अर्धमात्रिक ऋकार और लृकाररूप स्वरभक्ति का व्यवधान है। रेफ और उष्मवर्णों के बीच विद्यमान उस स्वरभक्ति का उच्चारण रेफ और लकार की तरह होता है अर्थात् ऐसे स्थान मे द्विरुक्त रेफ और द्विरुक्त लकार का सा उच्चारण होता है। जैसे—अश —अर्रश , वल्शा—वल्लशा इत्यादि उदाहरणो मे स्पष्ट है। इस प्रकार रेफ, लकार और उष्म वर्णो के मध्य स्वरभक्ति का उच्चारण अकार की तरह, एकार की तरह, और द्विरुक्त रेफ व द्विरुक्त लकार की तरह मतभेद से उच्चारण होता है। किन्तु अथर्ववेदीय इस स्वरभक्ति का उच्चारण इकार की तरह करते हैं। जैसा कि माण्डूकी शिक्षा मे कहा है—"सम्यगेना यदा पश्येत् शतवल्शिशेनि निदर्शनम्"। ऋग्वेदीय इसका उच्चारण उकार की तरह करते हैं जैसे धूपदम् = धूरुपदम। जहाँ उष्म-वर्णों से परे स्वर होता है वही इस स्वरभक्ति का उच्चारण होता है और जहाँ व्यजन होता है वहाँ नही। जसे वर्ष्म शब्द म उष्म से परे 'म' व्यजन के होने से रेफ और 'ष के बीच स्वरभक्ति का उच्चारण नही होता[5]।

---

१ अन्य हल वर्णों से असयुक्त तथा श ष स ह ऋकार वर्णों से सयुक्त अपरान्तस्थ(र) तथा तृतीयान्तस्थ(ल) वर्ण का एकार-सहित उच्चारण होता है।

२ हल (व्यञ्जन) रहित शलप्रत्याहार (श, ष, स, ह,) परे होने पर उनसे पूर्व रेफ का एकार सहित उच्चारण होता है।

३ हल-रहित शल प्रत्याहार परे होने पर उससे पूर्व रेफ का एकारसहित उच्चारण होता है और यह एकार पूर्ववर्ती रेफ का अङ्ग होता है।

४ श ष स ह—इन वर्णों के परे होने पर रेफ का रेकार की तरह उच्चारण होता है।

५ इस तथ्य का प्रतिपादन याज्ञवल्क्य शिक्षा मे 'स्वरोदया' पद से, प्रतिज्ञा सूत्र मे।

रङ्ग

१० 'देवा ँ एह, महा ँ असि' इत्यादि मे विशुद्ध आकार से परे नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण रङ्ग कहलाता है। तालुस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नीय मृदु अनुनासिक वर्ण नकार के तालु, मृदु व स्पृष्टत्व गुणका नाश होने से अर्धमात्र उस नकार वर्ण के स्थान मे अर्धमात्र अनुनासिक-विवृतिरूप अकार शेष रह जाता है। व्यजन नकार का पूव स्वर के द्वारा अनुरजन होने से नकार की स्वर की तरह प्रतीति होती है। अत पूर्वस्वररजन के कारण यह नकार रङ्ग कहलाता है। इसे अनुस्वार नही कह सकते क्योकि अनुस्वारस्थल म स्वर और अनुस्वार का अव्यवधान होने से पूव स्वर अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत होता है। जैसे राम हरि, आदि में अकार और इकार अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं और रङ्ग-स्थल मे रग का दीर्घ स्वर से पृथक् उच्चारण होने के कारण स्वर उससे ग्रस्त प्रतीत नही होता। अत यह रग वर्ण अनुस्वार से भिन्न है। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा मे कहा है—

> "रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत् पूवमक्षरम्।
> दीर्घ स्वर प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥

रङ्ग वर्ण का प्रयोग करते समय पूव स्वर को रग से ग्रस्त न करे अर्थात् इस प्रकार शीघ्रता से रग-वर्ण का उच्चारण न करे जिससे रगवर्ण के कारण पूर्व स्वर मे ग्रस्तता आ जावे। उसके पहले दीर्घस्वर का प्रयोग करे, पश्चात् नासिक्य रगवर्ण का उच्चारण करे।

अनुस्वार

११ अ, यहाँ पर स्वर के बाद नासिका मे उच्चायमाण वर्णअनुस्वार है।

'अयुक्ता यहल' पद से, नवाङ्कसूत्र मे 'अहल शलि' मे 'अहल' पद से, 'विहल्-शलि' इत्यादि केशवीवचन मे विहल पद से किया गया है। 'स्वरोदया' का अर्थ है—शकारादि उष्मवर्णों के बाद स्वर होना चाहिए न कि हल्-वर्ण। 'अयुक्ता यहल' का अभिप्राय है कि शकारादि उष्मवर्ण हल (व्यजन) वर्णों से युक्त नहीं होने चाहिएँ। अहल् तथा विहल पद का भी यही अभिप्राय है कि शकारादि वर्ण हल-रहित होने चाहियें, अर्थात् उनका सयोग किसी व्यजन से नहीं होना चाहिए।

यहाँ अनुस्वार की नकार की तरह प्रतीति होता है। किन्तु नकार मृदुस्पृष्ट वर्ण है जब कि अनुस्वार ईषत्स्पृष्ट वर्ण है। अत यह नकार से भिन्न वर्ण है। श, ष, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार का उच्चारण तीन प्रकार का होता है। यहाँ अनुस्वार का नकार-ध्वनि के समान उच्चारण बह्वृच (ऋग्वेद वाले) करते है जैसा कि पाणिनिशिक्षा मे कहा है—¹श, ष, स, ह के परे होने पर तूंबीवीणा के शब्द के समान दन्तमूलमात्र से उच्चारित होने वाले स्वरपश्चाद्-भावी अनुस्वार का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—वन्‌श, कन्‌स इत्यादि मे। यहाँ अनुस्वार के बाद जो 'न्' व्यञ्जन लिखा गया है उसका तात्पर्य यह है कि अनुस्वार दन्त्य-अनुनासिक है, अत इसका उच्चारण नकार की तरह होता है पर यह नकार नही है। अन्य वर्णों के परे होने पर जैसे अनुस्वार का अनुस्वार शब्द से व्यवहार होता है वैसे ही श, ष, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार-व्यवहार ही होगा। नकार या गुंकार आदि अन्य नाम इसका नही होगा।

१२ छन्दोगशाखा वाले (सामवेदीय) इस अनुस्वार की मकार के समान ध्वनि मानते हैं और व्यवहार के लिए इसका नाम मकार रखते है। जैसा कि नारद-शिक्षा मे कहा है

> "आपद्यते मकार रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वार ।
> यवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम् ॥

अर्थात् रेफ और श, ष, स, ह के परे होने पर अनुस्वार को मकार होता है, य, र, ल, व परे होने पर परसवर्ण और स्पर्शवर्णों के परे होने पर उसी स्पर्श का पञ्चम वर्ण होता है। अथवा "अनुस्वार रोष्मसु मकार" इस कात्यायन-प्राति-शाख्यसूत्र की एकवाक्यता नारदशिक्षा के साथ मानने पर यहा नारदीयशिक्षा के वचन मे भी अनुस्वार को मकार हो जाना है इत्यर्थक "आपद्यते मकारो रेफो-ष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्" यह पाठ मानना होगा। अथवा नारदीय शिक्षा के उत्तर पाठ के अनुसार मकार के स्थान मे अनुस्वार का विधान मानने पर भी उसका अभिप्राय यही माना जायगा कि छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुरोध से रेफ उष्म आदि

---

१ अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्य स्वरानुग ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्य ह्रो शषसेषु च ॥ पा० शि०

वर्णों के परे होने पर अनुस्वार की मकार के सदृश ध्वनि होती है। अत छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुसार 'वम्श , कम्स ' ऐसा उच्चारण होता है अर्थात् यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकार के समान है न कि अनुस्वार को मकार ही हो जाता है–यह तात्पय है।

१३ उपर्युक्त स्थानो मे अध्वयु लोग अनुस्वार की ध्वनि मकारसदृश मानते हैं। जैसे— त (ङ्) राम (ङ्) रावणारिम्। मि (ङ्) ह । व (ङ्) श । क (ङ्) स । कण्ठ्य अनुनासिक होने से अनुस्वार के उच्चारण में ङकार का आभासमात्र होता है न कि यह ङकार हो जाता है। ङकारसदृश ध्वनि की व्यवहार के लिए 'गु' सञ्ज्ञा की गई है। आज कल तो वेद का उच्चारण करने वाले 'गु' शब्द का ही उच्चारण करते हैं किन्तु यह उनका अज्ञान है। क्योकि जिस प्रकार अनुस्वार सञ्ज्ञाशब्दमात्र है उसी प्रकार 'कु खु गु घु' ये भी यमो की सञ्ज्ञा-मात्र हैं स्वरूपपरक नही। 'स्वम्प शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ शब्द सञ्ज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का बोधक नही होता है। यमप्रकरण मे सञ्ज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वारप्रकरण मे नही, ऐसा भ्रम करना असगत है, क्योकि जो अर्थ एक जगह माना जाता है वही अन्यत्र भी मानना चाहिए। अत एक शास्त्र मे जब निर्णय कर लिया गया कि शब्दसञ्ज्ञा अपने स्वरूप का बोधक नही तो उस शास्त्र में सभी जगह यही सिद्धात मानना होगा और यदि यमस्थान मे गुशब्द का उच्चारण किया जायगा तो गु शब्द के द्विमात्रिक वर्ण होने से नियता-क्षर छन्द का व्याघात होने से क्रमलोप होने लग जायगा।

'मित्र ससृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
रुद्र ससृज्य पृथिवी बृहज्ज्योति समेधिरे॥
दृहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये।
अहस, द ष्ट्राभ्याम, मा हिंसी॥'

इत्यादि मे गु शब्द का उच्चारण करने वालो को अभीष्ट छन्द का भगरूप दोष तथा अर्थबोध में क्लेशरूप दोष का भागी बनना पडेगा। प्र
प्रकार के उच्चारणो म एक पक्ष मे व्यवस्थापक शास्त्रो क
से वे शास्त्र चरितार्थ हो जाते हैं। अत उन शास्त्रो का गु शब्द
तात्पर्य मानना असगत है और गु शब्द के मे तात्पर्य
भी नही है।

'अनुस्वारस्यगुमित्यादेश , शषसहरेफेषु' इस प्रतिज्ञासूत्र मे इति शब्द के उल्लेख से गु शब्द स्वरूपपरक है सज्ञापरक नही। ऐसा आजकल के वेदपाठियो का कथन भी अज्ञानविजृम्भित है। क्योंकि प्रतिज्ञासूत्र मे इति शब्द 'कु खु गु घु यमा , मे उक्त गुकार का स्मारक है, अत उसका तात्पर्य स्वरूपपरता मे नही है। अर्थात जैसे गु आदि शब्द यमसदृश उच्चारण के बोधक हैं उसी प्रकार अनुस्वार-शब्द भी अनुस्वारसदृश उच्चारण का बोधक है।

वश , हवीषि, कस , सिह , त रामम् इत्यादि म अनुस्वार का, नकार, मकार और ङकार इनम से किसी एक रूप से उच्चारण प्रकृतिसिद्ध है। किसी वेद मे नकार-रूप से किसी मे मकाररूप से तथा किसी मे ङकाररूप से होता है। यह व्यवस्था वेद-भेद से समझनी चाहिए।

४ विसर्ग

१४ अ —यह विसर्ग है। यहाँ अकार स्वरमात्र का बोधक है। स्वर के बाद हकार की तरह प्रतीयमान हकारभिन्न विक्षेपक ध्वनि विसर्जनीय या विसर्ग कहलाती है। जैसे—राम , अग्नि आदि मे। विसर्ग मे हकारसदृश ध्वनि है और यह हकार की तरह प्रतीत होता है, पर विसर्ग हकार नही है, क्योकि हकार अधस्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्तिसहित होता है और विसर्ग ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाला है तथा स्वरभक्ति से रहित है। अत विसर्ग हकार से पृथक् वर्ण है। जैसा कि कहा है—[1]जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है उस प्रकार की ध्वनि उष्मा मे करनी चाहिए और हकार का परित्याग करना चाहिए। यहां हकार-परित्याग का तात्पर्य स्वरभक्ति-परित्याग मे है। यह विसर्ग हकार मे भिन्न है तथापि उष्म शब्द मे इसका व्यवहार होता ही है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है कि—[2] ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय, ये ८ गतियाँ उष्मा की होती हैं।

५ औरस्य उष्मा

१५ ह्न ह्ल—ये औरस्य उष्मा कहलाते हैं। यहाँ नकार-मकार और णकार का तथा रेफ-य, व, ल का भी वाचक है। इसीलिये अभियुक्तो ने कहा है कि—[3]

---

१ यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकार परिवर्जयेत् ॥
२ ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ।
३ हकार पञ्चमैयु क्तम न्त स्थाभिश्च सयुतम्।

वर्णों के परे होने पर अनुस्वार की मकार के सदृश ध्वनि होती है। अत छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुसार 'वम्श , कम्म ' ऐसा उच्चारण होता है अर्थात् यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकार के समान है न कि अनुस्वार को मकार ही हो जाता है-यह तात्पय है।

१३ उपर्युक्त स्थानो मे अध्वयु लोग अनुस्वार की ध्वनि मकारसदृश मानते हैं। जैसे— त (ङ्) राम (ङ) रावणारिम्। सि (ङ्) ह । व (ङ्) श । क (ङ्) स । कण्ठ्य अनुनासिक होने से अनुस्वार के उच्चारण में ङकार का आभासमात्र होता है न कि यह ङकार हो जाता है। ङकारसदृश ध्वनि की व्यवहार के लिए 'गु' सज्ञा की गई है। आज-कल तो वेद का उच्चारण करने वाले 'गु' शब्द का ही उच्चारण करते हैं किन्तु यह उनका अज्ञान है। क्योकि जिस प्रकार अनुस्वार सज्ञाशब्दमात्र है उसी प्रकार 'कु खु गु घु' ये भी यमो की सज्ञा-मात्र हैं स्वरूपपरक नही। 'स्वरूप शब्दस्याशब्दसज्ञा' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ शब्द सज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का बोधक नही होता है। यमप्रकरण मे सज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वारप्रकरण मे नही, ऐसा भ्रम करना असगत है, क्योकि जो अर्थ एक जगह माना जाता है वही अन्यत्र भी मानना चाहिए। अत एक शास्त्र म जब निर्णय कर लिया गया कि शब्दसज्ञा अपने स्वरूप का बोधक नही तो उस शास्त्र में सभी जगह यही सिद्धात मानना होगा और यदि यमस्थान मे गुशब्द का उच्चारण किया जायगा तो गु शब्द के द्विमात्रिक वर्ण होने से नियता-क्षर छन्द का व्याघात होने मे क्रमलोप होने लग जायगा।

'मित्र ससृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
रुद्र ससृज्य पृथिवी बृहज्ज्योति समेधिरे॥
ह हस्व देवि पृथिवि स्वस्तये।
अहस, द ष्ट्राभ्याम, मा हिंसी ॥'

इत्यादि में गु शब्द का उच्चारण करने वालो को अभीष्ट छन्द का भगरूप दोष तथा अर्थबोध में क्लेशरूप दोष का भागी बनना पडेगा। प्रकृतिसिद्ध तीन प्रकार के उच्चारणो में एक पक्ष मे व्यवस्थापक शास्त्रो का तात्पर्य मानने से वे शास्त्र चरिताथ हो जाते हैं। अत उन शास्त्रो का गु शब्द के उच्चारण म तात्पर्य मानना असगत है और गु शब्द के उच्चारण म तात्पर्य मानना शास्त्रानुसारी भी नही है।

'अनुस्वारस्युमित्यादेश , शषसहरेफेषु' इस प्रतिज्ञासूत्र मे इति शब्द के उल्लेख से गु-शब्द स्वरूपपरक है सज्ञापरक नही। ऐसा आजकल के वेदपाठियो का कथन भी अज्ञानविजृम्भित है। क्योकि प्रतिज्ञासूत्र मे इति शब्द 'कु खु गु घु यमा , मे उक्त गुकार का स्मारक है, अत उसका तात्पर्य स्वरूपपरता मे नही है। अर्थात जैसे गु आदि शब्द यमसदृश उच्चारण के बोधक हैं उसी प्रकार अनुस्वार-शब्द भी अनुस्वारसदृश उच्चारण का बोधक है।

वश , हवीषि, कस , सिह , त रामम् इत्यादि म अनुस्वार का, नकार, मकार और ङकार इनमे से किसी एक रूप से उच्चारण प्रकृतिसिद्ध है। किसी वेद मे नकार-रूप से किसी मे मकाररूप से तथा किसी मे ङकाररूप से होता है। यह व्यवस्था वेद-भेद से समझनी चाहिए।

४ विसर्ग

१४ अ —यह विसर्ग है। यहाँ अकार स्वरमात्र का बोधक है। स्वर के बाद हकार की तरह प्रतीयमान हकारभिन्न विक्षेपक ध्वनि विसजनीय या विसर्ग कहलाती है। जैसे—राम , अग्नि आदि मे। विसर्ग मे हकारसदृश ध्वनि है और यह हकार की तरह प्रतीत होता है, पर विसर्ग हकार नही है, क्योकि हकार अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्तिसहित होता है और विसर्ग ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाला है तथा स्वरभक्ति से रहित है। अत विसर्ग हकार से पृथक् वर्ण है। जैसा कि कहा है—[1]'जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है उस प्रकार की ध्वनि उष्मा मे करनी चाहिए और हकार का परित्याग करना चाहिए। यहाँ हकार-परित्याग का तात्पर्य स्वरभक्ति-परित्याग मे है। यह विसर्ग हकार मे भिन्न है तथापि उष्म शब्द मे इसका व्यवहार होता ही है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है कि—[2] ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय, ये ८ गतियाँ उष्मा की होती हैं।

५ औरस्य उष्मा

१५ ह्न ह्ल—ये औरस्य उष्मा कहलाते हैं। यहाँ नकार-मकार और णकार का तथा रेफ-य, व, ल का भी बोधक है। इसीलिये अभियुक्तो ने कहा है कि—[3]

---

१ यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकार परिवर्जयेत् ॥

२ ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ।

३ हकार पञ्चमैर्युक्तम न्त स्थाभिश्च सयुतम् ।

वर्गों के पचम वर्णों से तथा अन्तस्थ य, र, ल, व मे युक्त हकार औरस्य कहलाता है, तथा इनसे असयुक्त हकार कण्ठ्य कहलाता है। औरस्य हकार के उदाहरण-पूर्वाह्ण, वह्नि, ब्रह्मा, मह्यम्, ह्रद, ह्लाद, विह्वल आदि हैं।

६ जिह्वामूलीय व उपध्मानीय

१६ ᳵक ᳵख म क व ख से पूर्व जो हकार सदृश ध्वनि है, उसे जिह्वामूलीय कहते है। ᳶप ᳶफ—इस प्रकार प और फ से पूर्व हकारसदृश ध्वनि को उपध्मानीय कहते है। क्रमश क ᳵकवि, क ᳵखल, क ᳶपटु, क ᳶफली इनके उदाहरण है।

७ यम

१७ नासिक्यभिन्न स्पर्श से नासिक्यस्पर्श के परे होने पर मध्य मे पूर्वसदृश वर्ण जो कि अनासिक्य व नासिक्य मे भेद करता हुआ उच्चारित होता है, उसे यम कहते हैं। वे स्पशवर्ण स्थान व करण के स्पश से उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्वभाव है। किन्तु स्पर्शवर्णों के बाद जब यम-वर्ण होता है तो वह स्थान और करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न होता है और पूर्वस्पर्शवर्ण के सदृश होता है। वह यम अर्थात् स्थान और करण के स्पर्श की विरति या विच्छेद से उत्पन्न होता है, अत इसे यम कहते हैं। इस प्रकार स्थान-करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न प्रतिध्वनि यद्यपि पद के अन्त में और अन्तस्थ वर्ण तथा पञ्चम वर्णों के परे होने पर उत्पन्न होती है। जैसे— रामात्त्, शुक्क्र, अग्ग्नि इत्यादि मे। तथापि वर्गों के पचम वर्ण के परे होने पर नासिक्यता क वैलक्षण्य के द्वारा यह प्रतिध्वनि यम-नामक पृथक् वर्ण मानी जाती है। जसे वृक्क्ण, पलिक्क्नी, रुक्क्मम्, रत्त्नम्, आत्त्मा, स्वप्प्न, पाप्प्मा इत्यादि मे द्वितीय स्पर्शवर्ण जो कि अनुनासिक से पूर्व है, यम है। ये यम वर्गों के पञ्चम वर्ण मे पूर्व-वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्शवर्ण हैं, ये सख्या म २० हैं। अत २० यम कहलाते हैं ऐसा एकदेशी का मत है। कुछ का कहना है कि क, ख, ग, घ ये चार ही यम हैं। कतिपय आचार्यों का मत है कि द्वित्वसिद्ध चार वर्ण ही यम हैं, तैत्तिरीयों का मत है कि यम वर्ण का आगमरूप है। आर्त्क्नी सक्थ्क्ना, यज्ञ म क और ङ जो कि वर्णागम हैं, यम है। 'ङ' रूप यम परे होने पर उसके प्रभाव से ज को ग हो जाता है। अन यज्ञ-शब्द मे गकार ङकार व अकार का सयोग है। यज्ञ-शब्द में आर्ष उच्चारण के बाहुल्य से यमसहित उच्चारण करने वाला

सम्प्रदाय ही चल गया है। केवल लोक मे प्रयुक्त शब्दो मे यमसहित उच्चारण करने का सम्प्रदाय नही चला है। जैसे—'याच्ञा' शब्द का यमरहित ही उच्चारण होता है। इसलिए यहाँ ङकार यम के अभाव मे तत्प्रभावजन्य च को क नही हुआ है। कुछ की ऐसी मान्यता है कि 'राज्ञ' में जकार व ञकार के मध्यवर्ती यम जकार को ञ के प्रभाव से प्राप्त तालुस्पृष्ट नासिक्यता के प्रयत्नविरोध द्वारा न होने से उसके स्थान का परिवर्तन होकर द्रुति के कारण ग हो जाता है, और गकार के परे होने से पूर्व जकार को भी ग हो जाता है। यदि यह कहे कि ञकार तालुस्पृष्ट नासिक्य वर्ण जब विद्यमान है तो प्रयत्न का विरोध न होने से ज को ञ होने म क्या आपत्ति है तो यह भी सगत नही, क्योकि ञ के नासिक्य अन्तस्थ वर्ण होने से वह ईषत्स्पृष्टप्रयत्न वाला है और वर्णागम जकार रूप यम स्पृष्टप्रयत्न वाला है, इस प्रकार प्रयत्न-विरोध विद्यमान है।

कुछ विद्वानो का कहना है कि न तो बीस यम हैं और न चार और न यम वर्ण ही है, किन्तु यम अशरीर है, अत उसका उच्चारण नही होता। अत 'अमोघनन्दिनीकार ने स्पष्ट कहा है कि 'समार्ज्जिम' में दो जकार एक मकार और एक मकार के ऊपर विद्यमान रेफ है, अत यम को अशरीर मानना चाहिए। कात्यायन ने भी कहा है कि पञ्चम वर्णों के परे होने पर पञ्चमेतर वर्ण विच्छेद को प्राप्त होते है। यह विच्छेद ही यम है। अत एव यह अशरीर है। अत 'रुक्क्म' इत्यादि में क को द्वित्व होने पर उसके पश्चात् पञ्चम वर्ण से पूर्व नासिक्य तथा अनासिक्यवर्णो के विरोध के फलस्वरूप दोनो के मध्य यति (विरति, विच्छेद) उत्पन्न होता है। यह विच्छेद ही यम है। अत यम कोई वर्ण नही है।

विभिन्न उच्चारण-सम्प्रदायो के कारण यम के विषय मे चार मत है। चारो ही मतो मे पूर्व अक्षर के होने पर यम होता है अन्यथा नही। अत सिद्धान्तकौमुदी में यम का जो उदाहरण 'घ्नन्ति' दिया है, उसे 'निघ्नन्ति' समझना चाहिए। अन्यथा पूर्व अक्षर के न होने मे वह यम का उदाहरण नही बनेगा। ज्ञान-शब्द म यम नही है। ज्ञा-धातु में गकार तथा अनुनासिक एव तालव्य ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला ञकार है न कि यम। इस प्रकार ६७ अक्षरो का यह आर्ष वर्णसमाम्नाय है।

---

१ जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित ।
अशरीर यम विद्याद् समार्ज्ज्मीति निदर्शनम् ॥

कितने ही निम्ब, यौगिक तथा अयोगवाहों मे भिन्न ६० औपपादिक वर्ण और मानते हैं। उनको मिलाने से १८७ वर्ण इस दोभाषा में होते हैं। वे निम्नलिखित हैं।

(२) अ   आ   अ ३
इ   ई   इ ३
उ   ऊ   उ ३
ऋ   ॠ   ऋ ३

इस प्रकार ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से भावी स्वर १४ हैं। लृवर्ण दीर्घ नही होता।

(३) ए   ए ३ ॥ ऐ   ऐ ३
ओ   ओ ३ ॥ औ   औ ३

(४) उपर्युक्त दोनो प्रकार के स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद से तीन प्रकार के है अत ६६ स्वर हो जाते हैं। इन सबमे शुद्धस्वरत्व, विवृतत्व तथा अस्पृष्टत्व-साधर्म्य है। लृकार प्लुत भी होता है अत इसके ३ भेद और इस मत मे बढ जाते हैं।

(५) रल-पूर्वक उष्मवर्ण तथा ऋ, लृ म स्वरभक्ति भी होती है। जैसे—स्पर्श, हर्ष, अर्ह इनमें रेफ और उष्मवर्णों के बीच स्वरभक्ति है। ऋ और लृ मे दो स्वरभक्तियो के बीच रेफ और लकार है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—
[1]ऋवर्ण और लृवर्ण म क्रमश दो रेफ व दो लकार हैं वे मिले हुए हैं।

(६) ऽ य र ल व—ये ५ ईषत्स्पृष्ट, अन्तस्थ, ईषन्नाद प्रयत्न वाले हैं। इन पाँचों में पहला वर्ण ऽ विवृत्ति है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है — [2]जहाँ दो स्वरो के मध्य सन्धि नही है वहाँ विवृत्ति समझनी चाहिए। य ऽ ईश इसका उदाहरण है।

(७) य, य, ड, ळ, व—ये पाँच वर्ण दु स्पृष्ट अन्तस्थ है। इनमें प्रथम वर्ण 'य' सवृत यकार है। ह्रस्व अकार का परिनिष्ठित (सिद्ध) अवस्था में सवृत प्रयत्न तथा प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न होता है। किसी ने जो यह कहा है कि प्रवर शब्द में यकारस्थानीय, यकार के विकार से उत्पन्न सवृत यकार है और उकार

१ ऋलवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ। का०प्रा० ४ १४६
२ द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ऽ ईशेति निदर्शनम्॥

यहाँ विवृत है। इसीलिये भिन्न प्रयत्न होने से यहाँ सन्धि नही हुई है—वह असगत है। क्योकि यकारस्थनीय विवृत्ति मानने पर भी सन्धि का अभाव सिद्ध हो सकता है। अत सन्ध्यभाव के लिए प्रयत्नभेद मानने की आवश्यकता नही।

वस्तुतस्तु 'प्रउगम्' मे ईषत्स्पृष्ट यकार को प्लुति-प्रतिक्षेप के कारण वकार हो जाता है और सजातीय उकार से उसका अभिभव हो जाने से अभिव्यक्ति नही होती और उसका लोप हो जाता है।

अत यकार के स्थान मे सवृत अकार व विवृत अकार का आदेश मानने की आवश्यकता नही है। प्र शब्द का अकार यहाँ सवृत है और उकार विवृत है। अत प्रयत्नभेद के कारण सन्धि नही होती।

(८) दु स्पृष्ट य और व की स्थिति पद के आदि मे तथा य र ह और अनुस्वार से पूर्व होने पर होती है। दु स्पृष्ट य, व के उच्चारण मे ईषत्स्पृष्ट यकारादि की अपेक्षा अधिक स्पर्श तथा स्पृष्ट वर्णो की अपेक्षा अल्प स्पर्श होता है, अत इन दोनो प्रकार के वर्णो की प्रतीति यहाँ होती है। जैसा प्रतिज्ञासूत्र मे कहा है— 'अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्सयुक्तासयुक्तस्य रेफोष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषणादिमध्यावसानेषु उच्चारणे जकारोच्चारण द्विर्भाविऽप्येवम्।' इति

यहाँ लघु प्रयत्नतर यकार का जकार के समान उच्चारण वतलाते हुए कात्यायन को यकार व जकार का मध्यमवृत्ति से उच्चारण अभीष्ट है। नारद ने भी कहा है—[1]

पाद के आदि मे, पद के आदि मे, सयोग मे, अवग्रह मे, 'ज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्यत्र य-शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ ज-शब्द से—जिसमे जकार की सी प्रतीति होती है ऐसा उच्चारण अभिप्रेत है न कि जकार का उच्चारण ही अभिप्रेत है। यदु, यम शय्या, निकाय्यम्, सूर्य, वीर्यम् आदि इसके क्रमश उदाहरण हैं। आन्तर्य्यम् मे भिन्न स्थिति वाले रेफ और यकार के सयोगो के उच्चारणक्रम मे जो भेद दिखाई देता है, तब रेफ का पूर्वाङ्गत्व व पराङ्गत्व यकार के ईषत्स्पृष्ट व दु स्पृष्ट होने मे कारण है। जहाँ

---

१ पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च।
ज शब्द इति ज्ञेयो योऽन्य स य इति स्मृत। नारद शिक्षा।

कितने ही निरूढ, यौगिक तथा अयोगवाहो से भिन्न ६० औपपादिक वर्ण और मानते है। उनको मिलाने से १८७ वर्ण छन्दोभाषा में होते हैं। वे निम्नलिखित है।

(२) अ   आ   अ ३
इ   ई   इ ३
उ   ऊ   उ ३
ऋ   ॠ   ऋ ३

इस प्रकार ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से भावी स्वर १४ हैं। लृवर्ण दीर्घ नही होता।

(३) ए   ए ३ ॥ ऐ   ऐ ३
ओ   ओ ३ ॥ औ   औ ३

(४) उपर्युक्त दोनो प्रकार के स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद से तीन प्रकार के है अत ६६ स्वर हो जाते हैं। इन सबमे शुद्धस्वरत्व, विवृतत्व तथा अस्पृष्टत्व-साधर्म्य है। लृकार प्लुत भी होता है अत इसके ३ भेद और इस मत मे बढ जाते हैं।

(५) रल-पूर्वक उष्मवर्ण तथा ऋ, लृ मे स्वरभक्ति भी होती है। जैसे—स्पर्श, हृष, अर्ह इनमे रेफ और उष्मवर्णो के बीच स्वरभक्ति है। ऋ और लृ मे दो स्वरभक्तियो के बीच रेफ और लकार है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—[1]ऋवर्ण और लृवर्ण मे क्रमश दो रेफ व दो लकार है वे मिले हुए हैं।

(६) ऽ य र ल व—ये ५ ईषत्स्पृष्ट, अन्तस्थ, ईषन्नाद प्रयत्न वाले हैं। इन पाँचों मे पहला वर्ण ऽ विवृत्ति है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है —[2]जहाँ दो स्वरो के मध्य सन्धि नही है वहाँ विवृत्ति समझनी चाहिए। य ऽ ईश इसका उदाहरण है।

(७) अ, य, ड, ळ, व—ये पाँच वर्ण दु स्पृष्ट अन्तस्थ है। इनम प्रथम वर्ण 'अ' सवृत अकार है। ह्रस्व अकार का परिनिष्ठित (सिद्ध) अवस्था में सवृत प्रयत्न तथा प्रक्रियादशा मे विवृत प्रयत्न होता है। किसी ने जो यह कहा है कि प्रउग शब्द में यकारस्थानीय, यकार के विकार से उत्पन्न सवृत अकार है और उकार

१ ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ। का प्रा ४/१४६
२ द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ऽ ईशेति निदर्शनम् ॥

यहाँ विवृत है। इसीलिये भिन्न प्रयत्न होने से यहाँ सन्धि नही हुई है—वह असगत है। क्योकि यकारस्थनीय विवृत्ति मानने पर भी सन्धि का अभाव सिद्ध हो सकता है। अत सन्ध्यभाव के लिए प्रयत्नभेद मानने की आवश्यकता नही।

वस्तुतस्तु 'प्रउगम्' मे ईषत्स्पृष्ट यकार को प्लुति-प्रतिक्षेप के कारण वकार हो जाता है और सजातीय उकार से उसका अभिभव हो जाने से अभिव्यक्ति नही होती और उसका लोप हो जाता है।

अत यकार के स्थान मे सवृत अकार व विवृत अकार का आदेश मानने की आवश्यकता नही है। प्र शब्द का अकार यहाँ सवृत है और उकार विवृत है। अत प्रयत्नभेद के कारण सन्धि नही होती।

(८) दु स्पृष्ट य और व की स्थिति पद के आदि मे तथा य र ह और अनुस्वार से पूर्व होने पर होती है। दु स्पृष्ट य, व के उच्चारण मे ईषत्स्पृष्ट यकारादि की अपेक्षा अधिक स्पर्श तथा स्पृष्ट वर्णों की अपेक्षा अल्प स्पर्श होता है, अत इन दोनो प्रकार के वर्णो की प्रतीति यहाँ होती है। जैसा प्रतिज्ञासूत्र म कहा है— 'अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्सयुक्तागयुक्तस्य रेफोष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषणादिमध्यावसानेषु उच्चारणे जकारोच्चारण द्विर्भावेऽप्येवम्।' इति

यहाँ लघु प्रयत्नतर यकार का जकार के समान उच्चारण बतलाते हुए कात्यायन को यकार व जकार का मध्यमवृत्ति से उच्चारण अभीष्ट है। नारद ने भी कहा है—[1]

पाद के आदि मे, पद के आदि मे, सयोग मे, अवग्रह मे, 'ज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्यत्र य-शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ ज-शब्द से—जिसमें जकार की भी प्रतीति होती है ऐसा उच्चारण अभिप्रेत है न कि जकार का उच्चारण ही अभिप्रेत है। यदु, यम शय्या, निकाय्यम्, सूर्य, वीर्यम् आदि इसके क्रमश उदाहरण हैं। आन्तर्य्यम् मे भिन्न स्थिति वाले रेफ और यकार के सयोगो के उच्चारणक्रम मे जो भेद दिखाई देता है, तब रेफ का पूर्वाङ्गत्व व पराङ्गत्व यकार के ईषत्स्पृष्ट व दु स्पृष्ट होने मे कारण हैं। जहाँ

---

१ पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च।
ज शब्द इति ज्ञेयो योऽन्य स य इति स्मृत। नारद शिक्षा।

रेफ पूर्वाङ्ग है वही यकार दु स्पृष्ट है। अर्थात् आन्नय्यम्' में रेफ यकार का तथा यकार मकार का सयोग है। इनम रेफ जब पूर्व अक्षर का अङ्ग होता है, तब दु स्पष्ट यकार का उच्चारण होता है और जब रेफ पर अक्षर का अग होता है, तब ईपत्स्पृष्ट यकार का उच्चारण होना है। गह्य, वाह्यम, अह्यु गयु इन उदाहरणो मे यकार के दु स्पृष्ट होने पर अनुस्वार अथवा अनुनासिक यकार का उच्चारण होता है, और जो यहाँ यकार को ईपत्स्पृष्ट मानते हैं उनके मत मे 'शय्यु ' इस प्रकार का उच्चारण होता है।

वर, वीर, वाय्वो, सव विह्वल, शवूव आदि मे दु स्पृष्ट वकार की स्थिति पदादि की तरह पदमध्य मे तथा सयोगादि म भी है। देव, शिव, काव्य, भव्यम्, यम्या, यद्यपि इत्यादि मे तथा विश्व, विद्वान् इत्यादि मे प्रथम यकार व वकार गुरु प्रयत्न वाले होने से दु स्पृष्ट होते हैं और द्वितीय यकार-वकार लघु प्रयत्न वाले होने से ईपत्स्पृष्ट हैं।

(६) पद के आदि में तथा सयोग के आदि मे दु स्पृष्ट डकार नही होता। डमरु कुड्य, वड़ आदि इसके उदाहरण हैं। कुड्मल आदि मे कही कही स्पृष्ट व दु स्पृष्ट डकार का विकल्प है। दो स्वरो के मध्य में दु स्पृष्ट 'ड' का उच्चारण होता है। जैसे निगड मे। वेद मे दो स्वरो के मध्य में ड को ळ हो जाता है। जैसे 'अग्निमीळे' आदि मे। माध्यन्दिन शाखा वालो के लिये यह नियम नही है।

(१०) ह, श, प, स, ह ये पाँच ऊष्म-वर्ण ईपच्छ्वास तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। इनमे आदि और अन्त के हकार क्रमश जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हैं। जिह्वामूलीय तथा कण्ठ्य हकारो का उत्पत्तिस्थान देश समान है, अत कण्ठ्य हकार का भी जिह्वामूलीय हकार से ग्रहण होना है। हकार के पाँच स्थान हैं—कण्ठस्थानीय तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्ण से पूर्व हकार जिह्वा-मूलीय कहलाता है। जैसे ≍क≍ ख मे क व ख से पूर्व हकार का कण्ठस्थान तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न है। वही हकार जब ओष्ठस्थानीय तीव्रस्पृष्टप्रयत्न वाले वर्ण से पूर्व होता है, तव उपध्मानीय कहलाता है। जेसे ≍ प ≍ फ। इनमे प व फ से पूर्व हकार उपध्मानीय है क्योकि यहा हकार कण्ठस्थानीय क ख वर्ण से पूर्व न होकर ओष्ठस्थानीय प फ से पूव है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उच्चारण मे समानता होने पर भी स्थानभेद के कारण उन्हे भिन्न वर्ण माना

जाता है। जब हकार मुखमध्यभागस्थानीय एव अर्द्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले शकरादि वर्णो से पूर्व होता है, तब वह विसर्जनीय कहलाता है। जैसे 'क शम, क षडङ्ग, क सुत आदि उदाहरणो मे। अन्त मे भी हकार विसर्ग ही कहलाता है। जसे—'क' इस उदाहरण मे। नासिक्य अन्तस्थ वर्ण के परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जसे—ह्न, ह्र इन उदाहरणो मे। शिक्षाकार [1]अयोगवाहो को आश्रयस्थानभागी मानते है। अत [2]अकार व ऋकार से परे विसर्ग कण्ठ्य, इकार ऐकार से परे तालव्य, उकार औकार से परे ओष्ठ्य, एकार से परे कण्ठतालव्य, ओकार से परे कण्ठोष्ठ्य माना जाता है। तथा पूवस्वरस्थानभागी होने से स्वरभक्ति के भी पूर्व स्वर के स्थानभेद से विभिन्न स्थान होते हैं। अर्थात् पूवस्वर का जो स्थान होता है वही स्थान उसके बाद आने वाली स्वरभक्ति का होता है। अत विसर्ग की तरह विभिन्न स्वरो से परे आने वाली स्वरभक्ति के भी स्थान बदलते रहते है देवै सह, मति सा हि, सर्व सा हि, पशु स, नौ सह, मते साधो, माधो सहोवत् इत्यादि क्रमश उसके उदाहरण हैं। विसग और स्वरभक्तियो के उच्चारणक्रम मे इस भेद का निदर्शन लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा मे किया गया है। नासिक्य तथा अन्त स्थ वर्ण परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जैसे ह्ण, ह्न, ह्म, ह्य, ह्र, ह्ल, ह्व आदि मे। अस्पृष्ट वर्ण परे होने पर हकार कण्ठस्थानीय माना जाता है। जैसे सह-सहितो हुतो हृदि। इन पाँचो प्रकार के हकारो मे उच्चारण की तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न की समानता है।

(११) मुख मे प्रथम, मध्यम, उत्तम भेद से तीन स्थान हैं। उर, कण्ठ तथा कर्णमूल ये तीन स्थान प्रथम स्थानत्रय कहलाते है। तालुमूल, मूर्धा तथा दन्त-मूल ये तीन स्थान मध्यम स्थानत्रय हैं और सृक्का, उपध्मा तथा ओष्ठ ये तीन स्थान उत्तम स्थानत्रय कहलाते हैं। उनमे प्रथम तीनो स्थानो (उर, कण्ठ, कर्ण-मूल) मे और उत्तम तीन स्थानो (सृक्का, उपध्मा, ओष्ठ) मे ऊष्म-वर्णो का अर्धस्पृष्ट प्रयत्न होने पर भेदाभिव्यक्तिरहित 'ह' ऐसा समान ही रूप रहत है। तालुमूल, मूर्धा, दन्तमूल इन तीन मध्यम स्थानो मे अधस्पृष्ट प्रयत्न वाले उष्म—

---

१ अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिन । इति। पा० शि०।

२ अविद्यमानो योग प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषा ते अयोगा अनुपदिष्टत्वात् उपदिष्टै रगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यथ । सि कौ तत्त्वबोधिनी।

वर्णों का हकार से भेद होने पर भी अत्यन्तभेदयुक्त समान सा रूप रहता है। जसे—श, ष, स । इन तीनों म मध्यम मूर्धन्य षकार को कवर्ग द्वितीय वर्ण (ख) के समान उच्चारण माध्यन्दिनशाखा वाले करते हैं। जैसा कि केशवी— सूत्र मे कहा है— ष खप्द्रुते च । ष का ख के समान उच्चारण करने म वे कोई प्रयत्नदोष आदि कारण नही मानते हैं। वे ष का ख की तरह उच्चारण करते है पर लिपि म 'ष' ही मानते है। उसम कोई परिवतन नही करते।

(१२) एकस्वरभक्ति, दश अन्तस्थ, आठ ऊष्मवर्ण इन १६ वर्णों का, जिनमें स्वर और व्यजन दोनो के धम मिलते हैं, अल्पस्पृष्टत्व तथा अल्पविवृतत्व साधर्म्य है।

(१३) ग ज ड द ब ये पाच वर्ण घोष, सवृत, ईषन्नाद तथा स्पृष्ट हैं। क च ट त प ये पाँच वर्ण अघोष, विवृत, ईषच्छ्वास तथा स्पृष्ट है। इन दसो व्यञ्जनो मे पूर्णस्पृष्टत्व, अल्पप्राणत्व तथा निरनुनासिकत्व-साधर्म्य (समान धर्म) हैं।

(१४) ळ ळ्ह—ये दो वर्ण दु स्पृष्ट हैं। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—ड ढ किन्ही के मत मे ळ, ळ्ह बन जाते है। किन्तु ड, ढ जब स्वरो के मध्य में हों तथा समान पद मे हो तभी ळ ळ्ह बनजाते हैं। जसे—अषाढा-अषाळ्हा। माध्यन्दिनशाखा वाले ळ्ह को नही मानते हैं।

(१५) घ, झ, ढ, ध, भ— ये पाँच वर्ण नाद, सवार व घोष है।
ख, छ, ठ, थ, फ— ये पाँच वर्ण श्वास, विवार व अघोष हैं।

इन १२ वर्णों-ढ, ळह, घ, झ, ढ, ध, भ, ख, छ, ठ थ, फ का स्पृष्टत्व, सोष्मत्व व महाप्राणत्व साधर्म्य है। र, ल ङ, ण, न, म आदि भी सोष्म वर्ण है, किन्तु छन्दोभाषा मे इन्हे सोष्म नही कहा है। अत उनका यहा निरूपण नही किया है।

(१६) अँ इँ ऋँ लृँ उँ— ये ५ नासिक्यभावी स्वर ह्रस्व, दीघ, प्लुत-भेद से चौदह है, क्योकि लृ दीर्घ नही होता, नही तो १५ होते। विशुद्ध विवृत अकार मूल-प्रकृति होने से भावी नही है किन्तु अनुनासिक अकार के भावी होने मे कोई बाधा नही है।

एँ ऐँ ओँ औँ— ये चार नासिक्य सध्यक्षर स्वर, दीर्घ, प्लुत भेद से ८ हैं क्योंकि ये कभी ह्रस्व नही होते। ये सध्यक्षर होने से द्विमात्रिक हैं और

ह्रस्व एकमात्रिक होता है। १४ प्रकार के नासिक्य भावी स्वर तथा ८ प्रकार के नासिक्य सन्ध्यक्षर सभी उदात्त अनुदात्त स्वरित भेद से तीन प्रकार के है अत मिलाकर नासिक्य भावी स्वरो तथा नासिक्य सन्ध्यक्षरो की सख्या २६ हो जाती है। इन सबका अनुनासिकत्व, अस्पृष्टत्व तथा विवृतत्व साधर्म्य है।

(१६) ं—यह स्वर से उत्तर अनुस्वार वर्ण है।
आ ँ— यह विशुद्ध दीर्घ स्वर से उत्तर रङ्ग वर्ण है।
यँ वँ लँ—ये तीन अन्तस्थवर्ण हैं।
कुँ खुँ गुँ घुँ—ये चार यमवर्ण हैं।
ङ ञ ण न म— ये पाँच वर्ण नाद, सवार व घोष है।

इन उपर्युक्त चौदह वर्णो का नासिक्यत्व-साधर्म्य है। यहाँ अल्पप्राण, घोष, स्पृष्ट, दुस्पृष्ट व ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले तालव्य वर्णो-ज य य का अनुनासिक होने पर समान ही उच्चारण होता है। अत अनुनासिक ईषत्स्पृष्ट से नासिक्य चवर्ग-पञ्चम ञकार पृथक् वर्ण नहीं है तथापि चिरतन लोकव्यवहार के अनुरोध से इसे यहाँ वर्णान्तर कह दिया गया है। मुखमध्य-भागस्थ तालव्य, मूर्धन्य तथा दन्त्य अनुनासिक वर्णो (ञ, ण, न,) का मृदुस्पृष्ट वर्ण (ज, ड, द) तथा ईषत्स्पृष्ट वर्ण (च, ट, त) परे होने पर अनुस्वार की तरह समान ही उच्चारण होता है। जैसे—पञ्चार सञ्जय, कण्टकम्, काण्ड, दन्त, स्कन्द मे। तथापि अस्पृष्ट व ईषत्स्पृष्ट वर्ण परे होने पर गुण, गुण्य आदि शब्दो मे विशेषता की उपलब्धि होने से णकार को अलग वर्ण मानना उचित है। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय व यमवर्णो मे अयोगवाहत्व-साधर्म्य है। इस प्रकार छन्दोभाषा मे १८७ वर्ण हैं। जो यमो को २० मानते हैं उनके मत मे २०३ वर्ण हो जाते है। इस प्रकार ९७,१८७ अथवा २०३ वर्ण छन्दोभाषा मे मतभेद से है। यह आर्षेयी वर्णमातृका पथ्यास्वस्ति कहलाती है।

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय मे सक्षेपत ६४ वर्ण हैं। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा मे कहा है — [1]प्राकृत व सस्कृत मे ब्रह्मा के द्वारा स्वय प्रोक्त ६३ या ६४ वर्ण है।

---

(१) त्रिषष्टिर्वा चतु षष्टिवर्णा शम्भवतो मता।
प्राकृते सस्कृते चापि स्वय प्रोक्ता स्वयम्भुवा॥

वर्णों का हकार से भेद होने पर भी प्रयत्नभेदयुक्त समान सा रूप रहता है। जैसे—श, ष, स। इन तीनों में मध्यम मूर्धन्य षकार का षवर्ग द्वितीय वर्ण (ख) के समान उच्चारण माध्यन्दिनशाखा वाले करते हैं। जैसा कि वैशवी—सूत्र में कहा है—ष खष्टुमृते च। ष का ख के समान उच्चारण करने में वे कोई प्रयत्नदोष आदि कारण नहीं मानते हैं। वे ष का ख की तरह उच्चारण करते है पर लिपि में 'ष' ही मानते है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं करते।

(१२) एकस्वरभक्ति, दश अन्तस्थ, आठ ऊष्मवर्ण इन १९ वर्णों का, जिनमें स्वर और व्यजन दोनों के धर्म मिलते हैं, अल्पस्पृष्टत्व तथा अल्पविवृतत्व साधर्म्य है।

(१३) ग ज ड द ब ये पाच वर्ण घोष, सवृत, ईषन्नाद तथा स्पृष्ट हैं। क च ट त प ये पाँच वर्ण अघोष, विवृत, ईषच्छ्वास तथा स्पृष्ट हैं। इन दसो व्यञ्जनों मे पूर्णस्पृष्टत्व, अल्पप्राणत्व तथा निरनुनासिकत्व-साधर्म्य (समान धर्म) हैं।

(१४) ळ ळ्ह—ये दो वर्ण दु स्पृष्ट हैं। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—ड ढ किन्ही के मत मे ळ, ळ्ह बन जाते हैं। किन्तु ड, ढ जब स्वरो के मध्य मे हो तथा समान पद म हो तभी ळ ळ्ह बनजाते है। जसे—अषाढा-अषाळ्हा। माध्यन्दिनशाखा वाले ळ्ह को नही मानते है।

(१५) घ, झ, ढ, ध, भ— ये पाँच वर्ण नाद, सवार व घोष है।

ख, छ, ठ, थ, फ— ये पाँच वर्ण श्वास, विवार व अघोष है।

इन १२ वर्णों ढ, ळ्ह, घ, झ, ढ, ध, भ, ख, छ, ठ थ, फ का स्पृष्टत्व, सोष्मत्व व महाप्राणत्व साधर्म्य है। र, ल ङ, ण, न, म आदि भी सोष्म वर्ण है, किन्तु छन्दोभाषा मे इन्हे सोष्म नही कहा है। अत उनका यहा निरूपण नही किया है।

(१६) अँ इँ ऋँ लृँ उँ— ये ५ नासिक्यभावी स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत-भेद से चौदह हैं, क्योकि लृ दीर्घ नही होता, नही तो १५ होते। विशुद्ध विवृत अकार मूल-प्रकृति होने से भावी नही है किन्तु अनुनासिक अकार के भावी होने मे कोई बाधा नही है।

एँ ऐँ ओँ औँ— ये चार नासिक्य सध्यक्षर स्वर, दीर्घ, प्लुत भेद से ८ हैं क्योंकि ये कभी ह्रस्व नही होते। ये सध्यक्षर होने से द्विमात्रिक है और

(३)

ग	ज	ड	द	ब	
क	च	ट	त	प	
ख	छ	ठ	थ	फ	ये २५ स्पर्शवर्ण हैं।
घ	झ	ढ	ध	भ	
ङ	ञ	ण	न	म	

(४)

य	र	ल	व	
श	ष	स	ह	ये आठ यादिवर्ण है।

(५)

≍ क—जिह्वामूलीय

≍ प—उपध्मानीय

अ—अनुस्वार

अ —विसर्जनीय

कुँ गुँ गुँ घुँ—यम ये आठ अयोगवाह हैं।

(६) ळ—दु स्पृष्ट। १ वर्ण

(७) कोई लृकार को प्लुत नहीं मानते। उनके मत मे ६३ वर्ण है। और जो लृकार को प्लुत मानते है उनके मत मे ६४ वर्ण है।

(८) कात्यायन ने प्रातिशाख्य मे 'हुम्' यह नासिक्य वर्ण अधिक माना है। अत उनके मतानुसार ब्राह्मवर्ण-समाम्नाय मे ६५ वर्ण हैं। जैसा कि उन्होने कहा है कि २३ स्वरवर्ण है और ४२ व्यजनवर्ण है। ये ६५ वर्ण ही ब्रह्मराशि कहलाते है। इन्ही मे सारा वाड्मय प्रतिष्ठित है। स्वर के बिना अनुस्वार तथा विसर्ग का उच्चारण नही होगा। अत वे व्यजन कहलाते है।

(१०) उदात्त, अनुदात्त व स्वरित की एकत्वविवक्षा के कारण उदात्तादिभेद से स्वरसख्या मे वृद्धि नही है। स्वरभक्ति का स्वर मे अन्तर्भाव है। विवृत्ति तथा सवृत अकार का अकार मे अन्तर्भाव है। दु स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऋ य ड ल व का ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऽ य र ल व के द्वारा सग्रह है। औरस्य हकार का कण्ठ्य हकार के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तथा रङ्गवर्ण का अनुस्वार मे अन्तर्भाव है। इस प्रकार ६४ वर्ण ही हैं, अधिक नही।

इस ब्राह्म-वर्णसमाम्नाय के सम्प्रदाय का ऋक्तन्त्र-व्याकरण मे निम्नरीति से उल्लेख है —

[1]इनमें २१ स्वर, २५ स्पर्श, यकारादि वर्ण आठ, चार यम तथा अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय व उपध्मानीय ये आठ पराश्रित (अयोगवाह)[2] दुःस्पृष्ट तथा प्लुत ऌकार इस प्रकार ६४ वर्ण हैं। उनका विवरण निम्नरीति से है —

(१)	अ	आ	अ ३	
	इ	ई	इ ३	
	उ	ऊ	उ ३	
	ऋ	ॠ	ऋ ३	
	ऌ	०	०	ये २१ स्वरवर्ण हैं।
(२)		ए	ए ३	
		ऐ	ऐ ३	
		ओ	ओ ३	
		औ	औ ३	

---

(१) स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍क ≍पौ चापि पराश्रयौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च॥
अणोर्विंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः॥
एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः।
यत् किंचिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्॥

अथायोगवाहानाह—

(२) अवर्णाच्च ऋकाराच्च विसर्गः कण्ठ्य एव सः।
इवर्णाच्च तथोवर्णात्तथा चकारपूर्वकः॥१६।
ओकारपूर्वकश्चैव तालव्यो भवति ध्रुवम्॥
एकाराच्च कण्ठतालुर्विसर्गो भवति ध्रुवम्।
कण्ठोऽरस्तथौकाराद् विसर्गो भवति ध्रुवम्॥
देवो व सविता चात्र हकारसदृशो भवेत्।
देवीरितस्रो विसर्गस्तु हिकारसदृशो भवेत्।
आखुस्ते पशुरित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
विसर्गश्चाग्नेरित्यादौ हेकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो बाह्वोरित्यादौ होकारसदृशो भवेत्।
अयं स्वैदक्षैरित्यादौ हिकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो द्यौष्पितेत्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
हकारो नव मन्तव्य इति शास्त्र-व्यवस्थितिः।
फणानि श्वाससदृशो विसर्गो भवति ध्रुवम्॥

(३) ग ज ड द ब
क च ट त प
ख छ ठ थ फ ये २५ स्पर्शवर्ण हैं।
घ झ ढ ध भ
ङ ञ ण न म

(४) य र ल व
श ष स ह ये आठ यादिवर्ण हैं।

(५) ≍ क—जिह्वामूलीय
≍ प—उपध्मानीय
अं—अनुस्वार
अः—विसर्जनीय
कुँ गुँ गुँ घुँ—यम ये आठ अयोगवाह हैं।

(६) ळ—दुःस्पृष्ट। १ वर्ण

(७) कोई ऌकार को प्लुत नहीं मानते। उनके मत मे ६३ वर्ण है। और जो ऌकार को प्लुत मानते हैं उनके मत मे ६४ वर्ण हैं।

(८) कात्यायन ने प्रातिशाख्य मे 'हुम्' यह नासिक्य वर्ण अधिक माना है। अतः उनके मतानुसार ब्राह्मवर्ण-समाम्नाय मे ६५ वर्ण हैं। जैसा कि उन्होने कहा है कि २३ स्वरवर्ण हैं और ४२ व्यञ्जनवर्ण हैं। ये ६५ वर्ण ही ब्रह्मराशि कहलाते हैं। इन्ही मे सारा वाङ्मय प्रतिष्ठित है। स्वर के विना अनुस्वार तथा विसर्ग का उच्चारण नहीं होगा। अतः वे व्यञ्जन कहलाते है।

(१०) उदात्त, अनुदात्त व स्वरित की एकत्वविवक्षा के कारण उदात्तादिभेद मे स्वरसंख्या मे वृद्धि नही है। स्वरभक्ति का स्वर मे अन्तर्भाव है। विवृत्ति तथा संवृत अकार का अकार मे अन्तर्भाव है। दुःस्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-अ य ड ल व का ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऽ य र ल व के द्वारा सग्रह है। औरस्य हकार का कण्ठ्य हकार के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तथा रङ्गवर्ण का अनुस्वार मे अन्तर्भाव है। इस प्रकार ६४ वर्ण ही हैं, अधिक नही।

इस ब्राह्म-वर्णसमाम्नाय के सम्प्रदाय का ऋक्तन्त्र-व्याकरण मे निम्नरीति से उल्लेख है —

'इदमक्षर छन्दो वर्णश समनुक्रान्तम् । ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय । इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज ऋषिभ्य । ऋषयो ब्राह्मणेभ्य । त खल्विममक्षरसमाम्नाय ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्त प्रब्रूयात् ।' इति ।

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय मे ५१ वर्ण है । जिनका उल्लेख 'अ इ उण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, लण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्' इन चौदह माहेश्वर सूत्रो म है । ये वर्ण—

अ	इ	उ	ऋ	लृ
०	ए	ओ	ऐ	औ
ह	य	व	र	ल
ञ	म	ङ	ण	न
झ	भ	घ	ढ	ध
ज	ब	ग	ड	द
ख	फ	छ	ठ	थ
च	ट	त	क	प
श	ष	स	ह	०

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एव यमो का अकार पर तथा शरो मे पाठ मानते है । ऐसा महाभाष्य मे कहा है । अत आठ वर्ण ये है । इस प्रकार ५१ वर्ण हैं । शेष वर्णो का इन्ही मे अन्तर्भाव है ।

प्राचीन काल मे असुरो के अनेक अवान्तर भेद थे । उनमे मयासुर-विभाग विद्या, शिल्प, कला, वीरता, सभ्यता आदि गुणो की विशेषता के कारण अन्यो से श्रेष्ठ था । यही विभाग प्रचीन समय म यवन नाम से विख्यात था । उसकी वर्णमातृका होढाचक्र नामक थी, उसमे ३७ वर्ण थे । वे निम्नाङ्कित है —

(१)

अ	व	क	ह	ड	
म	ट	प	र	त	
न	य	भ	ज	ख	ये २० प्रस्तीर्य वर्ण हैं।
ग	स	द	च	ल	

(२) अ इ उ ए ओ ये ५ मात्रावर्ण है।

(३)

घ	ङ	छ	
थ	ए	ठ	
ध	फ	ढ	ये १२ परिशिष्ट वर्ण हैं।
थ	झ	ञ	

प्रस्तीय वर्णों मे सवृत अकार है वह व्यजनतुल्य है। मात्रावर्णों मे विकृत अकार है वह स्वरवर्ण है। प्रस्तीर्य वर्णों मे मात्रा के सम्बन्ध से प्रस्तार होने पर १०० वर्ण हो जाते हैं। वे निम्नाङ्कित है —

(१)						(२)					
	अ	व	क	ह	ड		म	ट	प	र	त
	इ	वि	कि	हि	डि		मि	टि	पि	रि	ति
	उ	वु	कु	हु	डु		मु	टु	पु	रु	तु
	ए	वे	के	हे	डे		मे	टे	पे	रे	ते
	ओ	वो	को	हो	डो		मो	टो	पो	रो	तो

(३)						(४)					
	न	य	भ	ज	ख		ग	स	द	च	ल
	नि	यि	भि	जि	खि		गि	सि	दि	चि	लि
	नु	यु	भु	जु	खु		गु	सु	दु	चु	लु
	ने	ये	भे	जे	खे		गे	से	दे	चे	ले
	नो	यो	भो	जो	खो		गो	सो	दो	चो	लो

अबजद, हुव्वज, हुत्ती, कलमन् इस प्रकार की एक अवजद नाम की अन्य वर्णमातृका भी थी। किन्तु आर्यो ने उसका ग्रहण नही किया अत उसका यहाँ निरूपण नही किया जा रहा है।

अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते है। ध्वनिपरिच्छेद वर्ण कहलाते हैं। अत वर्णरूप परिच्छेद ही मातृका कहलाती है। मात्रिका को ही उच्चारण की समानता से मातृका कहते है। अथवा जननी को माता कहते हैं अर्थात् जननी म मातृशब्द रूढ है। यह वर्णमाता भी तद्देशीय भाषाओ की जननी है। अत वर्णमाता को वर्णमातृका कहा गया है।

पहिले भाषा ही चालू हुई थी। पश्चात उसमें वाक्यविभाग, वाक्यो मे पद विभाग तथा पदो म वर्णविभाग हुआ। प्रारम्भ मे तत्तद्वर्णों मे प्रारम्भ होने वाले पदविशेष के द्वारा वर्णो की सज्ञा थी। जैसे—अधमवाची 'रेफ' पद रकार का बोधक था। पश्चात् वर्ण के आगे 'इति' शब्द जोड कर वर्ण की सज्ञा हुई। जैसे—डिति डकार वर्ण की सज्ञा हुई। कात्यायनादि आचार्यो ने 'निर्देश इतिना' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि वर्णो का निर्देश वर्ण के आगे इतिशब्द लगा कर करना चाहिये। तदनन्तर वर्ण के आगे कार-शब्द जोड कर वर्ण की सज्ञा की जाने लगी। जसे अकार 'अ' की तथा ककार 'क' की सज्ञा बनी। 'कारेण च अव्यवहितेन व्यजनस्य' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने इसी तथ्य का निर्देश किया है। 'र एफेन च' इस सूत्र के द्वारा यह भी बतलाया है कि रकार का रेफ शब्द से भी व्यवहार होता है। पदो मे वर्णव्याकरण सर्वप्रथम रेफ शब्द से ही आरम्भ हुआ। अत उसके स्मरण के लिये माङ्गलिक स्वराभिज्ञान रेफ शब्द से ही कहा जाता है 'स्वैररपि' इस सूत्र के द्वारा कात्यायनादि ने यह बतलाया है कि स्वरो के द्वारा वर्णो का निर्देश होता है। और यह नियम सर्वभाषासाधारण है। जसे क, ख, ग घ, ङ मे अकाररूप स्वर के द्वारा ही वर्णो का निर्देश हुआ है। इसी प्रकार इगलिश भाषा म कही ए, बि, सि, डि इस रूप से इकार के द्वारा, जे, के म एकार के द्वारा, वर्णो की सज्ञा की गई है। कही आदि मे एकार लगा कर सज्ञा की जाती है। जसे—एफ, एल, एम, एन एस, एक्ष मे। कही आदि मे आकार लगाकर। जैसे—आर। पारसी भाषा मे भी एकार जोडकर वर्णसज्ञा की जाती है। जैसे—बे, पे, ते, टे, से इत्यादि म। अलिफ शब्द अलिपि का अपभ्रश है। जीम्, सीम्, स्वाद, मीन इत्यादि सज्ञाये सस्कृत रेफ शब्द की तरह

प्राचीनसप्रदायसिद्ध है। जसे—रेफ शब्द माङ्गलिक है इसी प्रकार जीम् इत्यादि शब्द भी माङ्गलिक है।

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्र थ के मातृकापरिष्कार नामक प्रथम प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

——

यमपरिष्कार द्वितीय प्रपाठ

यमपरिष्कार नामक द्वितीय प्रपाठक मे यम का विशद विवेचन किया गया है। शुद्धजित्, सोष्मजित्, शुद्धधि, सोष्मधि भेद से यम के ४ प्रकार है। उनकी क्रमश कु खु गु घु सज्ञाये है। यम के स्वरूप मे मतभेद है। १—एकवर्ण म पूर्व तथा पर अक्षरो के वर्णो की एक साथ सम्प्रसक्ति होने पर दोनो वर्णो के विरोध से वर्ण को द्वित्व हो जाता है। उन दो वर्णो मे द्वितीय वर्ण अनुनासिक पर वर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। वही नासिक्य वर्ण यम कहलाता है। द्विरुक्त वर्णो मे प्रथम वर्ण निरनुनासिक है और द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो गया है। इन दोनो का भिन्न प्रयत्नो से ग्रहण होता है। अत दोना वर्णो म कुछ विच्छेद होता है और यम एक ही वस्तु है। इस द्विरुक्त वर्ण मे पहिले का स्पृष्ट प्रयत्न है क्योकि वह निरनुनासिक है तथा द्वितीय सानुनासिक है, क्योकि पर अनुनासिक पचमवर्ण के प्रभाव के कारण उसम नासिक्यत्व आ जाती है अत उस नासिक्य द्वितीयवर्ण का सवृत प्रयत्न है। यही इन दोनो वर्णो के प्रयत्न म भेद है। मण्डूक ने इस अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। जसे—

> वर्गाना तु प्रयोगेषु करण स्याच्चतुर्विधम्।
> सवृत विवृत चव स्पष्टमस्पृष्टमेव च॥
> स्पर्शाना करण स्पृष्टमन्त स्थानामतोऽन्यथा।
> यमाना सवृत प्राहुर्विवृत तु स्वरोष्मणाम्॥

यहा स्पष्ट रूप से यम वर्णो का सवृत प्रयत्न बतलाया गया है। इस पक्ष मे यम वर्ण का आगम है। अतएव सशरीर है एव पूव वर्ण के सदृश वर्ण

है। केवल इन दोनों वर्णों में निरनुनासिकता व सानुनासिकता तथा स्पृष्ट प्रयत्न व मृत प्रयत्न का भेद है। वर्णप्रदीपिकाकार ने भी—

'स्वगात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयक ।
तत्स्य यमसंज्ञा स्यात् पञ्चमे परतो यदि ॥'

इस कारिका के द्वारा पञ्चम प्रकार के परे होने पर उसके साथ संयुक्त पूर्व वर्ण के द्वित्व से उत्पन्न तत्समान द्वितीय वर्ण को ही यम बतलाया है। 'अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यम' इस ऋक्प्रातिशाख्य सूत्र में भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण है। ये यम संख्या में बीस हैं, क्योंकि प्रत्येक वर्ग के आदि के चारों वर्णों में पञ्चम वर्ण के परे होने पर द्वित्व के कारण उत्पन्न द्वितीयवर्ण यम कहलाते हैं। तथापि शुद्धजित्व सोष्मजित्व, शुद्धजित्व व सोष्मजित्व इन धर्मों के प्रत्येक वर्ग के चारों यम वर्णों में समानरूप से रहने के कारण इन चार धर्मों के कारण यम चार ही माने जाते हैं।

दूसरा मत यह है कि दो पदों के मध्य में अर्धमात्राकालिक यति (विच्छेद) होना है जिसे विवृत्ति भी कहते हैं। जैसे—'दस रामराम'। इस उदाहरण में दस के बाद तथा राम के बाद अर्धमात्राकालिक विच्छेद होता है। अर्थात् दस पद का उच्चारण करने के पश्चात् राम का उच्चारण करने से पूर्व कुछ समय रुकना पड़ता है। यह यति अर्थभेद में भी कारण पड़ता है। जैसे—'सदास आयाति' मे प्रथम सकार के बाद यति करने पर इस वाक्य का अर्थ वह 'वह दास आता है' यह होता है। और दा के बाद यति करने पर 'वह सदा आता है' यह अर्थ होता है। इन दोनो अर्थों के भेद में कारण यति ही है। इसी प्रकार—

काकाली, कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कस जघान कृष्ण कम्बलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इस पद्य में—'का काली का मधुरा, का शीतलवाहिनी गङ्गा।
क सजघान कृष्ण क बलवन्त न बाधते शीतम् ॥'

इस प्रकार का तथा क के बाद यति करने पर का काली इत्यादि प्रश्न-वाक्य बन जाते हैं। तथा—

काकाली, कामधुरा, काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कस जघान कृष्ण कम्बलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इस रूप मे 'काकाली' 'कामधुरा' व 'काशीतलवाहिनी' 'गङ्गा' मे का के बाद यति न करने से तथा 'कस जघान' मे कस के बाद यति करने से एव कम्बलवन्त' में क के बाद यति न करने से यही पद्य उत्तरवाक्य बन जाता है। इसी रीति से –

कागदही की आस मे बैठे निपट उदास।
कागदही पाये बिना मिटे न मन की प्यास॥

इस भाषापद्य में भी तीन जगह विरतिरूप यति के भेद से तीन अर्थ होते हैं। जैसे – का गदही की आस मे, काग दही की आस मे तथा कागद ही की आस मे।

'स क्रतु' इस शब्द मे ककार से पूर्व विरति होने पर 'सक्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। किन्तु ककार के उत्तर यति होने पर 'सक्ऽरतु' ऐसा उच्चारण होता है। यद्यपि 'सक्रतु' मे ककार परस्वर का अग है। किन्तु जब ककार के बाद यति होती है तो यति द्वारा ककार पर परस्वर का बल शिथिल हो जाता है और पूर्व अक्षर के बल का आक्रमण होने से पूर्व के साथ अधिक सनिकर्ष होता है। ककार पर, पूर्व तथा पर दोनो अक्षरो के बल के आक्रमण के कारण 'क' को जब द्वित्व हो जाता है तब यति पूर्व ककार के बाद तथा द्वितीय ककार के पूर्व होती है। और 'स क्ऽक्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। 'नक्तम्' म एक ही पद होने से पदविरति के न होने से, दो अक्षरो के मध्य ही विरति होने से भिन्न स्थानो मे विरति होने के कारण तीन प्रकार का उच्चारण होता है। जसे— न-क्तम्। नक्-तम्। नक्क्तम्। पहिले मे 'क' से पूर्व विरति है। द्वितीय मे 'क' के बाद। तथा तृतीय मे पूर्वोत्तरो के बलो के आक्रमण के कारण 'क' को द्वित्व होता है, और दोनो ककारो के मध्य विरति है। अनुनासिक वर्णं के परे होने पर उसके प्रभाव के कारण विरति नासिक्य बन जाती है उसी को यम कहते हैं। इस पक्ष मे विरति या अर्द्ध-मात्रा-कालिक विच्छेद का नाम यति है और विच्छेद या विरति शरीरशून्य है। अत इस पक्ष मे यम भी शरीरशून्य है। इसीलिए अमोघनन्दिनी शिक्षा मे यम को अशरीर कहा है।

'जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित।
अशरीर यम विद्यात् समाज्ज्मीति निदर्शनम्॥

'अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमे तु विच्छेदम्' इस प्रातिशाख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने भी 'विच्छेद इति यमसज्ञा' इस उक्ति के द्वारा विच्छेद

है। केवल उन दोनो वर्णों मे निरनुनासिकता व सानुनासिकता तथा स्पृष्ट प्रयत्न व सवृत प्रयत्न का भेद है। वर्णप्रदीपिकाकार ने भी—

'स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयक ।
तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् पचमश्चेत्ततो यदि ॥'

इस कारिका के द्वारा पचम अक्षर के परे होने पर उसके साथ सयुक्त पूर्व वर्ण के द्वित्व से उत्पन्न तत्समान द्वितीय वर्ण का ही यम बतलाया है। 'अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यम ' इस औदव्रजि सूत्र मे भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण है। ये यम सख्या मे बीस हैं, क्योकि प्रत्येक वर्ग के आदि के चारो वर्णों म पञ्चम वर्ण के परे होने पर द्वित्व के कारण उत्पन्न द्वितीयवर्ण यम कहलाते हैं। तथापि शुद्धजित्व सोष्मजित्व, शुद्धचित्र व सोष्मचित्र इन धर्मों के प्रत्येक वर्ग के चारो यम वर्णो मे समानरूप से रहने के कारण इन चार धर्मों के कारण यम चार ही माने जाते हैं।

दूसरा मत यह है कि दो पदो के मध्य मे अर्धमात्राकालिक यति (विच्छेद) होता है जिसे विवृत्ति भी कहते है। जैसे—'दश रामशरा'। इस उदाहरण मे दश के बाद तथा राम के बाद अर्द्धमात्राकालिक विच्छेद होता है। अर्थात् दश पद का उच्चारण करने के पश्चात् राम का उच्चारण करने से पूर्व कुछ समय रुकना पडता है। यह यति अर्थभेद म भी कारण पडता है। जैसे—'सदास आयाति' में प्रथम सकार के बाद यति करने पर इस वाक्य का अर्थ वह 'वह दास आता है' यह होता है। और दा के बाद यति करने पर 'वह सदा आता है' यह अर्थ होता है। इन दोनो अर्थो के भेद म कारण यति ही है। इसी प्रकार—

काकाली, कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कसजघान कृष्ण कम्बलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इस पद्य म—'का काली का मधुरा, का शीतलवाहिनी गङ्गा।
क सजघान कृष्ण क बलवन्त न बाधते शीतम् ॥'

इस प्रकार का तथा क के बाद यति करने पर का काली इत्यादि प्रश्न-वाक्य बन जाते हैं। तथा—

काकाली, कामधुरा, काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कस जघान कृष्ण कम्बलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इस रूप मे 'काकाली' 'कामधुरा' व 'काशीतलवाहिनी' 'गङ्गा' मे का के वाद यति न करने मे तथा 'कस जघान' मे कस के वाद यति करने से एव कम्वलवन्त' में क के वाद यति न करने से यही पद्य उत्तरवाक्य वन जाता है। इसी रीति से –

कागदही की आम मे वैठे निपट उदास।
कागदही पाये विना मिटे न मन की प्यास ॥

इस भापापद्य मे भी तीन जगह विरतिरूप यति के भेद से तीन अर्थ होते हैं। जैसे – का गदही की आस मे, काग दही की आस मे तथा कागद ही की आस मे।

'स क्तु' इस शब्द मे ककार से पूर्व विरति होने पर 'सऽक्तु' ऐसा उच्चारण होता है। किन्तु कवार के उत्तर यति होने पर 'सक्ऽतु' ऐसा उच्चारण होता है। यद्यपि 'सक्तु' मे ककार परस्वर का अग है। किन्तु जव ककार के वाद यति होती है तो यति द्वारा ककार पर परस्वर का वल शिथिल हो जाता है और पूर्व अक्षर के वल का आक्रमण होने से पूर्व के साथ अधिक सनिकर्ष होता है। ककार पर, पूव तथा पर दोनो अक्षरो के वल के आक्रमण के कारण 'क' को जव द्वित्व हो जाता है तव यति पूर्व ककार के वाद तथा द्वितीय ककार के पूर्व होती है। और 'स क्ऽक्तु' ऐसा उच्चारण होता है। 'नक्तम्' मे एक ही पद होने से पदविरति के न होने से, दो अक्षरो के मध्य ही विरति होने से भिन्न स्थानो मे विरति होने के कारण तीन प्रकार का उच्चारण होता है। जसे— न–क्तम्। नक्–तम्। नक्क्तम्। पहिले मे 'क' से पूर्व विरति है। द्वितीय मे 'क' के वाद। तथा तृतीय मे पूर्वोत्तरो के वलो के आक्रमण के कारण 'क' को द्वित्व होता है, और दोनो ककारो के मध्य विरति है। अनुनासिक वर्ण के परे होने पर उसके प्रभाव के कारण विरति नासिक्य वन जाती है उसी को यम कहते है। इस पक्ष मे विरति या अर्द्ध-मात्रा-कालिक विच्छेद का नाम यति है और विच्छेद या विरति शरीरशून्य है। अत इस पक्ष म यम भी शरीरशून्य है। इसीलिए अमोघनन्दिनी शिक्षा मे यम को अशरीर कहा है।

'जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित ।
अशरीर यम विद्यात् समाज्जर्मीति निदर्शनम् ॥

'अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमे तु विच्छेदम्' इस प्रातिशाख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने भी 'विच्छेद इति यमसज्ञा' इस उक्ति के द्वारा विच्छेद

को यम बतलाया है। वस्तुत दो स्वरों के विच्छेद को विवृत्ति सज्ञा तथा दो व्यजनो के विच्छेद को यम सज्ञा है। 'हरऽएहि' मे दो स्वरो के मध्य का विच्छेद विवृत्ति कहलाता है तथा 'पलिक्ऽक्नी' आदि मे दो व्यजनो के मध्य का विच्छेद यम कहलाता है। इस पक्ष मे विच्छेद की यमसज्ञा होने पर भी विच्छेद के पूर्ववर्ती व्यजन के चार प्रकार का होने से उसके अनन्तरवर्ती विच्छेदरूप यम को भी चार प्रकार का माना जाता है और इस प्रकार यमपूर्ववर्ती व्यजन के चातुर्विध्य का यम मे आरोप किया जाता है।

तीसरा पक्ष यह है कि भगवान् कणाद ने 'सयोगविभागशब्देभ्य शब्दोत्पत्ति' इस सूत्र के द्वारा सयोग, विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति बतलाई है। जैसे-ऊर्क्-क्, हरित्-त्, फट्-ट्, इत्यादि मे पदान्त के ककार, तकार, टकारो म प्रथम ककारादि, स्थान-करणसयोगजन्य है तथा द्वितीय ककारादि, वेग से स्थान करण का विभाग होने से उत्पन्न होते हैं अत विभागज हैं। यद्यपि स्थान-करण-सयोग का दानै उपराम होने पर अर्थात् विभाग होने पर कोई भी वर्ण उत्पन्न नही होता, किन्तु वेग के साथ स्थानकरण का विभाग होने पर, जिस प्रकार वेगपूर्वक स्थान-करण के सयोग से शब्द उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभाग से भी शब्द उत्पन्न होता है। जैसे—पदविरामरूप पदा त मे सयोगज व विभागज दोनो प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार पद के मध्य मे भी स्थान-करण के सयोगजन्य शब्द की तरह वेग से स्थान और करण का विभाग होने पर विभागज शब्द भी उत्पन्न होता है। सोष्मवर्ण (वर्गों के द्वितीय चतुर्थ वर्ण), रेफ तथा हकार को छोडकर शेष वर्णों मे द्वित्व का यही कारण है। यह विभागज वर्ण ही अनुनासिक वर्ण होने पर उसके प्रभाव से नासिक्यता को प्राप्त होकर यम कहलाता है। 'सक्थ्-थ्ना इत्यादि मे ककार के आगे थकार पर विरति होती है। यह थकार सयोगज व विभागज दोनो प्रकार का है। इनमे विभागज थकार अनुनासिक 'न' के पूर्व होने से यम कहलाता है। यहा पर ककार को द्वित्व नही होता, क्योकि वर्णरत्न प्रदीपिका मे यम के परे होने पर ककार के द्वित्व का निषेध किया है।

'द्विरुक्ति वर्जयेन्नित्य यमेऽपि परत स्थिते।
सक्थ्-थ्ना देदिश्यते नारी ककारोऽनैक एव हि॥'

यद्यपि 'सक्थ्-थ्ना' मे थकार को भी द्वित्व नही होता क्योकि 'सर्वेषा

व्यजनाना द्विर्भावो भवति द्वादशवर्जम्। ते ख छ ठ थ फा घ झ ढ ध भा रहो चेति।' इस गौतमसूत्र मे थ के द्वित्व का निषेध किया है, अत इस मत को मानने पर थकारान्तर्वर्ती तकार को द्वित्व मानना चाहिये। प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्था 'इन कात्यायन प्रातिशाख्य सूत्र मे भी यही तथ्य बतलाया गया है। इस प्रकार २० यम हैं। चतुर्थ मत यह है कि २० यम नही है किन्तु क, ख, ग, घ-सदृश ध्वनि वाले चार ही यम है जिनकी क्रमश कु खु गु घु ये सज्ञायें है। अत आतनच्मि मे आतनच्-क्मि, समाज्ज्ञि का समार्ज् ग्मि, आट्ग्ना का आट्क्ग्ना, रत्नम् का रत्क्नम्, सक्थ्ना का सक्थ्क्ना, विद्म का विद् म, दघ्न का दघ्-घ्म, पाप्मा का पाप्-क्मा ऐसा उच्चारण होता है। इसलिए पाणिनीय शिक्षाभाष्य शिक्षाप्रकाश मे 'अन्तर्वर्त् क्नी मे तकार, यम ककार, नकार व ईकार ये चार वर्ण माने है। 'यज्ञ' मे जकार, यम गकार, तथा ञकार ये तीन वर्ण माने हैं। अर्थात् इन उदाहरणो मे च व ज के साथ भी क्रमश ककार व गकार को ही यम माना है न कि च् या ज को।

वस्तुत कुँ व गुँ इन यमो के कवर्ग-स्थानीय होने से चवर्ग स्थानीय च तथा ज को भी कवर्ग होकर क्रमश क तथा ग हो जाता है। इसी तथ्य का निरूपण 'चो कु' सूत्र के द्वारा किया गया है। अत आतनच्मि के स्थान मे 'आतनक्क्मि' तथा समाज्मि के स्थान मे 'समार्ग् ग्मि, यज्ञ' के स्थान मे 'यग्ग्ञ' तथा विज्ञानम् के स्थान मे 'विग्ग्ञानम्' उच्चारण सम्प्रदायसिद्ध माना जाता है।

'ज्ञानम्' मे भी मध्यम 'गुँ' यम होता है। क्योकि वर्गो के अन्त्य-भिन्न तथा अन्त्य वर्णो के सयोग मे मध्य मे यम होता है। ऐसा [1]औदव्रजि ने, वर्णो के अन्त्यभिन्न तथा अन्त्य स्पर्शो का सयोग होने पर अन्त्यभिन्न वर्ण के पूर्व मे तथा, अन्त्य वर्णो के उत्तर मे होने पर यम का प्रयोग होता है, ऐसा गौतम[2] ने

---

१ अनन्त्यान्त्यसयोगे मध्ये यम पूर्वगुण ।

२ अनन्त्यान्त्यसयोगेऽन त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न सशय ।

(गौतम)

कहा है। इसी प्रकार नारद[1], याज्ञवल्क्य[2], एव मण्डूक[3] ने भी अनन्त्य व अन्त्य वर्णो का सयोग होने पर मध्य म यम को सत्ता बतलाई है। अत ज्ञानम् मध्य मे गुँ सज्ञक यम के होने से और उसके झल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से जकार को भी 'चो कु' से कुत्व होकर गकार का ही उच्चारण होता है, यही उच्चारण वेदसम्प्रदायसिद्ध है। लोक में भी यही उच्चारण होता है। क्योकि कितने ही वैदिक शब्दो का व उच्चारणो का लोक में भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे वैदिक घृ धातु का लोक मे भी 'घृतम्' आदि शब्दो में प्रयोग देखा जाता है।

'ज्ञानम्' 'विज्ञानम्' इत्यादि मे एक ही गकार प्रतीत होता है। अत अप्रतीयमान द्वितीय 'गु' यम की सत्ता, प्रतीत न होने से कैसे मानी जायेगी, यह शका नही करनी चाहिये, क्योकि पूर्व स्पर्श और यम का सयोग अयस्पिण्ड के समान घन है, अत उसकी पृथक् प्रतीति न होने पर भी प्रकृतिसिद्ध यम का अपलाप नही किया जा सकता। भगवान् गौतम ने तीन प्रकार के सयोग-पिण्ड माने है—अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड तथा ऊर्णापिण्ड। यम के साथ वर्णो के सयोग को अयस्पिण्ड, अन्तस्थवर्णों के साथ वर्णों के सयोग को दारुपिण्ड, यम व अन्त स्थवर्णों से भिन्न वर्णो के सयोग को ऊर्णापिण्ड माना है। अन्तस्थ और यम वर्णों के सयोग मे कोई विशेषता नही है। अत यम को अशरीर बतलाया गया है।

अशरीर का तात्पर्य यह है कि यम पूर्ववर्ती स्पर्श के शरीर मे अन्त प्रविष्ट हो जाते है। इसीलिये पूर्वस्पर्शवर्ण तथा यम के मध्य में कोई विच्छेद नही होता। इसीलिये पूर्ववर्ती स्पर्श से भिन्न यम की प्रतीति नही होती। जैसा कि 'ज्ञानम्', विज्ञानम्' इत्यादि उदाहरणो मे देखा जाता है।

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ के मातृकानिरुक्त-नामक द्वितीय प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

——

१ अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो अन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्ण पूर्ववर्णयो ॥ (नारद)

२ अपञ्चमैश्चकपदे सयुक्त पञ्चमाक्षरम्।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वाक्षरस्य हि ॥ (याज्ञवल्क्य)

३ स्पर्शानामुत्तमै स्पर्शं सयोगश्चेदनुक्रमात्।
आनुपूर्व्या यमांस्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥ (मण्डूक)

गुणपरिष्कार-तृतीय प्रपाठ

सप्त खण्डात्मक गुणानुवाक नामक तृतीय प्रपाठ मे वर्णो मे रहने वाले गुणो का निरूपण किया गया है। "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि श्रुति मे चार प्रकार की वाक् का निरूपण किया गया है।

वाक् से परिच्छिन्न चार स्थान होते हैं—वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्य, ऐन्द्र और भौम। इन चार प्रकार के स्थानो के कारण वाक् के भी चार भेद बन जाते हैं—वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता तथा आम्भृणी। स्वयम्भूमण्डलरूप परमाकाश मे विद्यमान वाक् वेकुरा, महासमुद्ररूप पारमेष्ठ्य मण्डल म विद्यमान वाक् सुब्रह्मण्या, महाब्रह्माडरूप सौरमण्डल में विद्यमान वाक् गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डल मे युक्त भौमाण्डरूप पार्थिव मण्डल मे विद्यमान सोममयी वाक् आम्भृणी कहलाती है। यह चारो प्रकार का वाक्तत्व तत्तल्लोको मे विद्यमान सभी पदार्थों का उपादान कारण है। उनमे यह आम्भृणी वाक् इस भूमि मे सर्वत्र व्याप्त है। इसी आम्भृणी वाक् मे सब मनुष्य उपजीवित हैं। अन्य तीन प्रकार की वाक् गुहा मे निहित है अर्थात् अज्ञात हैं, जसा कि वेदमत्र मे कहा गया है—

> "बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत् प्रैरत नामधेय दधाना।
> यदेषा श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषा निहित गुहावि॥"

अर्थात् ऋक्, साम तथा यजुरूप वैदिकी वाक् सबको प्रकट होती हुई भी गुहा मे निहित है अर्थात् मानव उसको सम्यक्तया नही जानते। उपर्युक्त चारो प्रकार की वाक् का निरूपण विशदरूप से ब्रह्मविज्ञान मे किया गया है। 'चत्वारि वाक्' इत्यादि मत्र का उपर्युक्त व्याख्यान एक प्रकार का है। अन्य प्रकार से इसका व्याख्यान मैत्रायणि श्रुति मे किया गया है। जैसे—

यह वाक् वाज (अन्न) का प्रसव है अर्थात् अन्न से उत्पन्न होती है ऐसा मैत्रायणि श्रुति मे कहा है—"वाग् हि वाजस्य प्रसव। सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु। त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्या साऽग्नौ सा रथन्तरे।१। याऽन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये।२। या

१ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति॥

दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नो ।३। अथ पशुषु ।४। ततो या वागत्यरिच्यत ता ब्राह्मणे न्यदधु । तस्माद् ब्राह्मण उभयी वाच वदति—यश्च वेद यश्च न। या बृहद्रथन्तरयो —यज्ञादेन (वाज) तया गच्छति। या पशुषु तया ऋते यज्ञम्।

वाजस्येम प्रसव सुषुवे अग्रे सोम राजानमोषधीष्वप्सु। स विराज पर्य्येतु प्रजानन् प्रजा पुष्टिं वधयमानो अस्मे ॥१॥ । वाजस्येमा प्रसव शिश्रिये दिव स ओषधी समनक्तु घृतेन। वाजस्येद प्रसव आवभूवेमा च विश्वा भुवनानि सवत ॥२॥ (मैत्रि० ब्रा० १।११।४-५) इति।

उपर्युक्त मैत्रायणि श्रुति से यह सिद्ध है कि अन्न की प्रसवभूत वाक् के चार भेद है। इसके तीन चतुर्थांश, पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक मे हैं तथा एक चतुर्थांश पशुओ मे है तीनो लोको मे रहने वाली वाक् के तीन भेद गुहानिहित वस्तु की तरह प्रच्छन्न रहते हैं, अनुभूत नही होते। किन्तु पशुओं मे रहने वाली चतुर्थ वाक् अनुभूत होती है। इस प्रकार 'चत्वारि वाक परिमिता पदानि' की यह दूसरी प्रकार की व्याख्या है। अन्य प्रकार से इस श्रुति का व्याख्यान निम्नांकित है—

अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री भेद से वाक् चार प्रकार की है। उनमे मन और प्राण से गर्भित सत्यावाक् अमृता कहलाती है। ऋक्, साम और यजु ये तीनो वेद ही अमृता वाक् है। इन्ही से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन्ही मे सब पदाथ स्थित रहते है, इन्ही मे सब पदार्थो की सस्थिति अर्थात् लय होता है। यह अमृता वाक् आकाश है। अग्नि इसका ब्रह्म है, अग्नि इसका उपनिषद् है। इसलिये इसे आग्नेय कहते है। इसका निरूपण निम्न मन्त्र मे किया गया है—

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बुभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥"
(ऋ० १।१६४।४१)

दिव्या वाक् ऋत कहलाती है, यही अथर्ववेद है। सारे देवता और भूत दिव्यवाङ्मय ही है। निम्न मन्त्र मे इस तथ्य का निरूपण किया गया है—

"इय सा परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसशिता।
येनैव ससृजे घोर तेनैव शान्तिरस्तु न ॥"

इस वाक् को सरस्वान् कहते हैं। दिक्सोम इसका ब्रह्म है, दिक्सोम इसका उपनिषद् है। इसलिए यह सोम्या कहलाती है। इस दिव्या वाक् का निरूपण निम्न मन्त्रो मे मिलता है—

"तस्या समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ।
तत क्षरत्यक्षर तद् विश्वमुपजीवति ॥
वागक्षर प्रथमजा ऋतस्य वेदाना माता अमृतस्य नाभि ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥"

इन दोनो मे ध्वनि नही होती। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय से इसका ज्ञान नही होता। ध्वनि ही शब्द है। इन दोनो मे ध्वनि न होने से ये दोनो वाक् शब्द-रूप नही हैं।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निममे।"

इस मनुस्मृतिवाक्य मे शब्दरहित इन वेदरूप वाणियो के लिए जो 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे लाक्षणिक मानना चाहिए। क्योकि शब्दरहित अमृता देववाक् ही सृष्टि का कारण है।

श्रोत्र द्वारा ग्रहण करने योग्य ध्वनि दो प्रकार की होती है। इनमे पहली ध्वनि शक्तिरहित होने से अनर्थक है और वर्ण, पद, वाक्य आदि मे विभक्त दूसरी ध्वनि सार्थक है। उनमे अनर्थक प्रथम ध्वनिरूप वाक् का वायु ब्रह्म है और वायु उपनिषद् है। इसलिए इसे वायव्या कहते हैं। यह वाक् गतिहीन होते हुए भी वायु से आरब्ध-उत्पादित है, वायु मे प्रतिष्ठित है तथा वायु के द्वारा इधर उधर ले जायी जाती है। इसमे नाद, श्वास आदि विशेषताएँ वायु से बनती हैं। यही विश्व का उपजीवन करने वाली सरस्वती नाम की तृतीया वाक् है। यह भी पहली अमृता तथा दूसरी दिव्या वाक् की तरह अव्याकृत अर्थात् व्याकृतिरहित है। क्योकि अर्थ के कारण होने वाला वर्णादिविभाग इसमे दृष्टिगोचर नहीं होता। इस सरस्वती वाक् में इन्द्र प्रविष्ट होकर विभिन्न आकारो मे उसे व्याकृत करता है। इसी का निरूपण निम्न श्रुति मे किया गया है—

"वाग् वै पराची अव्याकृता अवदत्। तद् देवा इन्द्रमब्रुवन् इमा नो वाच व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत्। वर वृणै। मह्य चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति।

तस्मादैन्द्रवायव मह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादि
व्याकृता वागुद्यते।" इति।

उपर्युक्त विषय का विवेचन "वीभत्सूना सयुज हसमाहु" इत्यादि मत्र
किया गया है जिसकी व्याख्या 'अक्षर-प्रकरण' मे की जायेगी। इन्द्र के द्वा
व्याकृत इस वाक् से ही सारे वैदिक तथा लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, जैस
कि निम्नश्रुति म बतलाया गया है—

"वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी॥"

इस प्रकार वाक् मे प्रथम तीन प्रकार के वाक् तत्त्व अर्थज्ञान के
अनुकूल नही हैं, अत वे गुहा-निहित कहलाते हैं। वे किसी प्रकार के अर्थ क
नही बतलाते, किन्तु जिस वाक् को मनुष्य बोलते है, जिस वाणी मे अकार ककार
आदि व्याकृत वर्णों का विभाग है, यह चौथी प्रकार की अव्याकृत वाणी ऐन्द्र
वाक् कहलाती है। प्रज्ञा-प्राण को इन्द्र कहते हैं। प्रज्ञान के सम्बन्ध से ह
वाणी मे वर्ण विभाग होता है। 'अ' तथा 'उ' वैदिक विज्ञान मे क्रमश मन औ
प्राण के बोधक है। वहाँ अकार अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि, अम्=प्रज्ञान
मन, ऋण = प्राप्त ध्वनि इस व्युत्पत्ति से अर्ण कहलाती है। अथवा उ
अर्थात् प्राण, अ अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि 'उ-अ ऋण=वर्ण' इस सन्धि
से वर्ण कहलाती है। अत वर्ण ही अर्ण कहलाते है क्योकि प्रज्ञा और प्राण एक
दूसरे के विना नही रह सकते। अत केवल प्रज्ञा से भी प्राण का सग्रह
हो जाता है।

अनाहत नाद मे, वायु अग्नि, जल, पृथिवी आदि मे, पशु-पक्षी, सरीसृप
आदि में तथा सद्याजात अशिक्षित शिशुरोदन आदि म जो वाक् के स्वरूप हैं, वे
सब इन्द्र के द्वारा व्याकृत न होने से अनिरुक्त तथा केवल वायव्य होते है
मनुष्य जिस वाणी का उच्चारण करते हैं, वह अर्थगर्भित होने से निरुक्त तथ
प्रज्ञात कहलाती है। यही ऐन्द्रवायव ग्रह होता है क्योकि इसमे वायु के साथ
इन्द्र का भी समावेश है।

इस व्याकृत ऐन्द्री वाक् के अध्यात्म मे पुन चार भेद है। वे चारो भेद
परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी हैं। ससार मे ऐसा कोई भी ज्ञान नही है
जिसमे शब्द का सम्बन्ध न हो। अत सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध (सम्बद्ध) ही

प्रतीत होते हैं। इस उक्ति के अनुसार बुद्धिस्थ वाक् ही परा वाक् कहलाती है। मन के द्वारा पुस्तक के अक्षरो का उच्चारण करने वाले पुरुषो की उपांशु वाक् पश्यन्ती कहलाती है। नाद-ध्वनि के विना श्वासमात्र से कान के पास उच्चार्यमाण वाक् मध्यमा कहलाती है। नाद-ध्वनि से युक्त दूर से भी श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक् वैखरी कहलाती है। इनमे परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा प्रच्छन्न हैं अर्थात् उनका विशेषतया ज्ञान नही होता किन्तु चतुर्थ वैखरी वाणी का मनुष्य उच्चारण करते हैं। इसीलिये विद्वानो ने कहा है—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥"

इनमे वैखरी वाणी के अध्यात्म मे पुन चार भेद है। जैसा कि "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" इस मत्र मे कहा गया है। वाजसनेय श्रुति मे इस मत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है

"इन्द्र ने देखा कि वायु हम मे यज्ञ का अधिक हिस्सा ग्रहण करता है। हम भी इसमे हिस्सा लें। उसने कहा कि हे वायो! मुझे भी तुम इस ग्रह मे सम्मिलित करो। वायु ने कहा—तब क्या होगा? इन्द्र ने कहा कि निरुक्त वाक् का उच्चारण होगा। वायु ने कहा - यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हे सम्मिलित करता हूँ। तबसे यह ग्रह ऐन्द्रवायव नाम से व्यवहृत होने लगा। वाणी का चौथा भाग निरुक्त है जिसको मनुष्य बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग जिसको पशु बोलते है, अनिरुक्त है। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे पक्षी बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे क्षुद्र सरीसृप (सर्प, बिच्छू आदि) बोलते है।"

वैखरी वाणी के ये चार विभाग केवल अध्यात्म मे ही नही है किन्तु अधिभूत तथा अधिदैवत मे भी ये चार विभाग समझने चाहियें। जिस वैखरी वाक् का मनुष्य उच्चारण करते है, उसमे भी चार विभाग होते है। वे चार विभाग वर्ण, अक्षर, पद तथा वाक्य कहलाते है। मनुष्यो द्वारा उच्चार्यमाण वैखरी वाणी के ये चार विभाग ही इन्द्रकृत व्याकरण कहलाता है। इनमे वाक्य पदो से, पद अक्षरो से और अक्षर वर्णों से बनते हैं। इनमे वर्ण, अक्षर और पद गुहानिहित है अर्थात् स्वतन्त्रतया अर्थबोध उत्पन्न नही करते है अपितु वाक्य ही

अर्थ को वतलाने म समर्थ हैं, अत अर्थबोध के लिए मनुष्य वाक्यों का ही उच्चारण करते हैं।

वर्ण, अक्षर, पद और वाक्य—ये चारो विभाग भी पुन चार प्रकार के हैं। इनम वर्ण के चार विभाग अस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, स्पृष्ट तथा अर्धस्पृष्ट हैं। अक्षर के चार भेद निम्नलिखित हैं—

१, पूव तथा पश्चात् दोनो प्रकार के व्यापारो (व्यजनो) से शून्य अक्षर अक्षर का प्रथम भेद है। जैसे—अ।

२ पृष्ठ (पश्चात्) व्यापार से युक्त तथा पूव व्यापार से शून्य अक्षर अक्षर का द्वितीय भेद है। जैसे—स्म।

३ पृष्ठ व्यापार से शून्य तथा पूर्व व्यापार से युक्त अक्षर अक्षर का तृतीय भेद है। जैसे—ऊक्।

४ पूर्व तथा अपर दोनो प्रकार के व्यापारो से विशिष्ट अक्षर अक्षर का चौथा भेद है। जैसे - वाक्।

पद के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं, ऐसा भगवान् पतञ्जलि ने कहा है। कुछ उपसग को पृथक् पद नही मानते क्योकि आख्यात उपसर्गविशिष्ट होता है, अत आख्यात मे ही उसका अन्तर्भाव है। जहाँ उपसर्गो मे विभक्तियो का प्रयोग हुआ है, जैसे—"इन्द्रो देवान् प्रति प्रति" "अनीनि ह कर्माणि सन्ति" इत्यादि मे, वहाँ उपसर्ग नाम बन जाते हैं। अत उनका वहाँ नाम मे अन्तर्भाव हो जाता है। उनके मत से पद के चतुर्थ भेद मे स्वर, पुन आदि शब्द आते हैं जो नाम आख्यात तथा निपात से भिन्न हैं और विभक्त्यर्थ भी जिनके गर्भ मे आ जाता है। अत वे विभक्तिप्रयोग के योग्य नही हैं। इनको नाम नही कह सकते क्योकि नाम की तरह इसमे विभिक्ति का प्रयोग नही होता।

अथ के सम्बन्ध से प्रज्ञानयुक्त वाक् वाक्य कहलाती है। यह वाक्य भी नाभिस्थान, प्रक्रम-श्रय स्थान, मुखप्रदेश-पञ्चकस्थान तथा श्रोत्रस्थान भेद से चार प्रकार का है। यह वाक् प्रज्ञान (मन) से प्रेरित होकर, नाभि से प्रारम्भ होकर दूसरे व्यक्ति के कान तक पहुँच कर उसको अथज्ञान करा देती है और इस प्रकार चार पदो मे उपस्थित होकर विलीन हो जाती है। वाक् के इन चारो भेदो को

लेकर भी 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" इस मंत्र का समन्वय किया जा सकता है।

यह वाक्य ही प्रकारान्तर से पुन चतुष्पद है। इसका निरूपण ऐतरेय-आरण्यक मे किया गया है। वे चार पद मित, अमित, स्वर तथा सत्यानृत हैं। इनमे ऋक्, गाथा, कुम्व्या मित कहलाते हैं। यजु, निगद तथा वृथा वाक् अमित कहलाते है, साम तथा गेष्ण स्वर कहलाते हैं, ओम् यह सत्य तथा 'न' यह अनृत कहलाता है। कतिपय विद्वान् सत्य और अनृत को पृथक् मानकर वाक्य के पाँच भेद भी मानते हैं। यास्क ने निरुक्त मे "तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाच वदन्ति या च मनुष्याणा या च देवानाम्" इस प्रकार वाक् के जो दो भेद बतलाये हैं वे सस्कृत-भाषा तथा वेदभाषा के अभिप्राय से बतलाये हैं, क्योंकि वेदभाषा को स्वर्गभाषा कहा जाता था। इन वाक्यो, पदो और अक्षरो के आरम्भक वर्ण ही होते हैं। अत सबका मूल होने से प्रारम्भ मे वर्ण ही सिखाये जाने चाहिएँ। वे वर्ण वेदभाषा मे ६७ प्रकार के हैं। इन वर्णों के समाम्नाय का इस ग्रन्थ के आदि मे निरूपण किया गया है।

'अक्षराणामकारोऽस्मि' इस गीतास्मृति के अनुसार एक अकार-वर्ण ही सब वर्णों का आदि मूल है। इस अकाररूप अक्षर से ही भिन्न-भिन्न गुणो के समन्वय से सारा वर्णसमाम्नाय उत्पन्न होता है। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है [1]जो यह वाक् है, यही अकाररूप वाक् स्पर्श तथा उष्मा (आकुचन व प्रसारण) से अभिव्यक्त होकर नाना प्रकार को हो जाती है। ऐ आ २। ३। ६। इस श्रुति में स्पर्श तथा ऊष्मशब्द, स्थान व करण के परस्पर सनिकर्षतारतम्य व विप्रकर्ष-तारतम्य के क्रमश बोधक हैं। ये स्थान और करण बहिरग तथा अन्तरग भेद से दो प्रकार के है। मुखप्रदेश से बहिर्भूत अर्थात् वायु के मुख मे प्रविष्ट होने से पहिले जो वायु के आश्रयभूत स्थान और करण हैं वे बहिरग कहलाते हैं। दोनो ही जगह अर्थात् बहिरग व अतरग म प्रयत्नविशेष से स्थान और करण का सकोच व प्रसारण होने से भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्पश व ऊष्मशब्द से क्रमश सश्लेष व विश्लेष का भी बोध है। इससे स्वरो के विश्लिष्ट (विश्लेषसहित) उच्चारण मे एक मात्रा का काल लगता है। और

---

१ यो वता वाच वेद यस्या एष विकार स सम्प्रतिवित्। अकारो वै सर्वा वाक् सषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति। ऐ आ २। ३। ६।

सलिष्ट उच्चारण मे दो मात्रा तथा तीन मात्रा का काल लगता है। स्वरो का अवयवसकोच से घनीभाव होने पर स्वर व्यजन बन जाते हैं। वहाँ उनके उच्चारण मे अर्धमात्राकाल लगता है। इस प्रकार ये पाँच गुण (प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, बाह्यप्रयत्न, आभ्यन्तर प्रयत्न) एक अकार के अनेकाकारतासम्पादक बनकर वर्णसमाम्नाय की उत्पत्ति मे कारण होते है। वर्णसमाम्नाय की उत्पत्ति के कारण इन पाँच गुणो को बतलाने के लिए इस वर्णसमाम्नाय की प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, करणप्रयत्न तथा अनुप्रदान प्रयत्न से व्याख्या करेंगे।

१ प्रक्रमस्थान से वर्णभेद—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋ १।१६४।४५।

यह वेद मे कहा गया है। इसका तात्पय यह है कि प्राणवायु वाग्रूप मे परिणत होने के लिए प्रक्रम करती हुई चार प्रक्रम-पदों की अपेक्षा करती है। वे चार प्रक्रमपद नाभि, उरस्, शिरस् और मुख है। नाभि प्राणवायु का प्रथम पद है। वहाँ से चल कर वह उर स्थल मे, कण्ठ मे या शिर स्थान मे टकरा कर प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर लेती है। उर स्थल मे या कण्ठ मे प्रथम प्रक्रम की पूर्ति होने पर वहाँ से चल कर वह शिर स्थान मे टकरा कर द्वितीय प्रक्रम को समाप्त करती है। शिर स्थान मे चलकर मुख-स्थानो मे आघात प्राप्त कर वह तृतीय प्रक्रम समाप्त करती है। मुखस्थान से फिर चतुर्थ प्रक्रम मे वह वर्ण-रूप मे परिणत होकर मुख से निकलती है। जसा कि भगवान् पाणिनि ने कहा है—'आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को प्राप्त कर (जानकर) उनको दूसरे

१ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम्।
कण्ठे तु मध्यम शीर्ष्णि तार जनयति स्वरम्॥२॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रामापद्य मारुत।
वर्णान् जनयते तेषां विभाग पञ्चधा स्मृत॥३॥
स्वरत कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत।
इति वर्णविद प्राहुर्निपुण त निबोधत॥४॥

को वतलाने की इच्छा मे मन को प्रेरित करता है। मन कायाग्नि (जठराग्नि) पर ग्राघात करता है। कायाग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है। प्राणवायु उर स्थल मे ग्राहत होकर मन्द्रस्वर को उत्पन्न करता है। कण्ठ में टकराने पर मध्यम-स्वर को तथा शिर स्थान में टकराने पर तारस्वर को उत्पन्न करता है। वह उदीर्ण प्राणवायु शिर स्थान मे टकरा कर मुख मे पहुँचता है। ग्रौर भिन्न-भिन्न स्थानो मे सयोग के कारण भिन्न-भिन्न वर्णों को उत्पन्न करता है। उन वर्णों का विभाग पांच प्रकार से होता है। स्वर से, काल से, स्थान से, प्रयत्न से व ग्रनुप्रदान से ऐसा वर्णरहस्यवेत्ता कहते हैं, उनको सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

वहाँ नाभि, उर स्थान तथा शिर स्थान ये तीन पद गुहानिहित हैं ग्रर्थात् स्पष्ट प्रतीत नही होते। ग्रौर मुखस्थान वर्णों के उच्चारण मे उपयोगी है। नाभिस्थान मे प्राणवायु वनता है। उर स्थान मे वायु स्वररूप मे परिणत होती है। शिर स्थान मे स्वर ध्वनिरूप मे तथा मुखस्थानो मे ध्वनि वर्णरूप मे परिणत होती है। ग्रत प्रारभ के तीन पदो (नाभि, उरस्, व शिरस्) में वाणी के वाग् रूप प्राणवायु की वर्णरूप से ग्रभिव्यक्ति नही होती। किन्तु चतुर्थ मुख-स्थान मे वाक् को स्पष्ट ग्रभिव्यक्ति होती है। इस प्रतीतिगम्य ग्रर्थ को उपर्युक्त श्रुति वतला रही है।

पहले उरस्, कण्ठ, शिरस् भेद से तीन स्थान वतलाये गये है। इन तीन स्थानो की वलतारतम्य से उपपत्ति है। वर्णों को उच्चारण करने की इच्छा से प्रयुक्त प्राणवायु कम वल से गति करता है तो उर स्थान मे उचित (मध्यम) वल से कण्ठस्थान मे तथा वलाधिक्य से शिर स्थान मे गमन करता हुग्रा प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर देता है। ग्रत शिर स्थान मे ही जव इस प्राणवायु के प्रथम प्रक्रम की समाप्ति होती है तव तीन ही प्रक्रम-पद वनते है। मुख से वहिर्भूत इन प्रक्रमस्थानो को नारद ने सवन-नाम मे व्यवहृत किया है —

उर कण्ठ शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे॥

ग्रर्थात् वाङ्मय मे उरस्, कण्ठ व शिरस् ये तीन स्थान हैं। इनको सवन कहते हैं। इन्ही तीन सवनो से त्रैस्वय की उपपत्ति होती है। ग्रर्थात् नाभि प्रदेश से उत्थित वायु यदि उर स्थान मे पहुँच कर तत्पश्चात् ग्रागे चल कर मुख मे

आकर वर्णभाव मे परिणत होता है, तो उस वायु का यह प्रक्रम प्रात सवन कहलाता है। वहाँ मन्द्रस्वर उत्पन्न होता ह। वह स्वर उर स्थानीय अनुदात्त है। यदि कण्ठ म टकरा कर फिर मुख-प्रदेश मे पहुँच कर वर्ण-रूप मे परिणत होता है, तो मध्यन्दिन सवन होता है। वहाँ मध्यम स्वर उत्पन्न होता है। वह कर्णमूलीय स्वरित स्वर होता है। यदि उस वायु का प्रथम प्रक्रम शिर स्थान मे समाप्त होता है तो वह तृतीय सवन कहलाता है। वहाँ तार स्वर उत्पन्न होता है वह स्वर शीर्षस्थानीय उदात्त है। प्रात काल मन्द्र (अनुदात्त) वाणी से पाठ करे, माध्यन्दिन सवन मे मध्यम वाणी से तथा तृतीय सवन मे तार (उदात्त) वाणी से पठन करें। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है —

[1]जब यह सूर्य प्रात उदित होता है, तब प्रमन्द तपता ह, अत प्रात सवन मे मन्द्र (अनुदात्त वाणी से) ऋड्मन्त्र का उच्चारण करे। जब सूर्य आगे बढता है तब तीव्रता से तपता है, अत मध्यन्दिन सवन में तीव्र वाणी से शसन करे। जब सूर्य और भी आगे बढता है तब और भी तीव्रता से तपता है, अत तृतीय सवन मे तीव्रतम (उदात्त) वाणी से शसन करे।

[2]पाणिनि ने भी कहा है ,कि प्रात काल सिंह स्वर के सदृश उर स्थान स्थित स्वर से मन्त्रो का पाठ करे, मध्याह्न मे चकवे के शब्द के सदृश कण्ठस्थान-स्थित स्वर से पाठ करे और साय सवन मे मयूर, हस तथा कोकिल के स्वर क

---

१ "यदा वा एष प्रातरुदेति—अथ मन्द्र तपति।
तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रात सवने शसेत् ॥१॥
अथ यदाऽभ्येति—अथ बलीयस्तपति।
तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शसेत् ॥२॥
अथ यदाऽभितरामेति—अथ बलिष्ठतम तपति।
तस्मात् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शसेत् ॥३॥
यदि वाच ईशीत। वाग् हि शस्त्रम्। यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्योतुमर्हेत —
समापनाय, तथा प्रपद्येत। एतत् सुशस्ततममिव भवति।" (ऐ ब्रा १४ अ ४४)

२ प्रात पठेन्नित्यमुर स्थितेन। स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन ॥१॥
तार तु विद्यात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहसान्यभृतस्वराणा तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥२॥

सदृश शिर स्थानस्थित नाद मे पाठ करे, अर्थात् सायकाल तृतीय सवन मे शिर स्थित स्वर का प्रयोग करना चाहिए। उपरिवोचित सवनो मे प्रतिपादित स्वर के या नाद के विरुद्ध मे उच्चारण करने वाले पुरुषो का उदात्तप्रधानता मे उर क्षत, स्वरितप्रधानता मे स्वरभङ्ग तथा अनुदात्तप्रधानता मे मूर्च्छा हो जाती है।

सवनो के अनुसार तथा पदानुसार सब स्वरो का उच्चावचभाव (निम्नोन्नतभाव) मे उच्चारण करने पर उच्चारण म सुन्दरता प्रतीत होती है। प्रक्रम भेद से तीन स्वरो का भेद होता है। तीन स्वरो के भेद से अकारादि अक्षरो के भी तीन भेद हो जाते है। वे तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

कोई तीन स्वरो मे भिन्न एक प्रचयनामक स्वर की सत्ता और मानते है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है -

[1]हृदयस्थान म अनुदात्त का, शिर स्थान मे उदात्त का, कर्णमूल न स्वरित का तथा आस्य (मुख) मे प्रचय स्वर का उच्चारण होता है ॥१॥

प्रदेशिनी को उदात्त, मध्याङ्गुलि को प्रचय, अनामिका को स्वरित तथा कनिष्ठिका को अनुदात्त समझना चाहिए ॥२॥

यद्यपि[2] प्रदेशिनी के मूलभाग पर रखा हुआ अगुष्ठ उदात्त को, अनामिका के मध्य मे अगुष्ठ स्वरित को तथा कनिष्ठिका के अन्तिम भाग पर रखा हुआ अगुष्ठ अनुदात्त को बोधित करता है। इस वचन मे प्रचय-स्वर का उल्लेख नही किया है, तथापि पाणिन्यादि वाक्यो से मध्यमा अगुलि मे उसका निर्देश मिलता है। अत उसे मानना ही चाहिए।

"उच्चैस्तरा वा वषट्कार । इत्यादि वचनो मे उदात्ततर स्वर का भी

---

१ अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृत ।
स्वरित कर्णमूलीय सर्वास्ये प्रचय स्मृत ॥१॥
उदात्त प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचय मध्यतोऽङ्गुलिम् ।
कनिष्ठा निहत विद्यात् स्वरित चाप्यनामिकाम् ॥२॥

२ उदात्तमायाति वृषोऽङ्गुलीना प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ।
उपान्त्यमध्ये स्वरित धृत च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥

उल्लेख मिलता है इसी तरह अनुदात्ततर स्वर का भी। क्योकि उदात्ततर स्वर की तरह अनुदात्ततर स्वर को मानना भी उचित है। इसीलिए भगवान् [1]नारद ने कहा है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा निघात ये पाँच स्वर के भेद हैं। एक श्रुति भी भिन्न स्वर है। इसीलिए 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ' यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु। इत्यादि सूत्रो म अस्वर्य को बोध कर एकश्रुति का विधान किया है।

वस्तुत ये उदात्ततरादि स्वर अैस्वर्य से भिन्न नही हैं। क्योंकि उदात्त का तरतमभाव से उच्चारण करने पर उदात्ततर, उदात्त व प्रचित ये तीन भेद हो जाते हैं। अत स्वर की सूक्ष्मता के प्रदर्शन के अनुरोध से तीन भेद होने पर भी उदात्ततर और प्रचित उदात्त मे पृथक् नही है। जैसा कि [2]भगवान् नारद ने कहा है—उदात्त ही स्वरित से परे होने पर प्रचय कहलाता है, वह पृथक् स्वर नही हैं

उदात्त और स्वरित के मध्यवर्ती होने से प्रचित स्वर को कितने ही उदात्त मानते हैं। दूसरे प्रचित का स्वरित म अन्तर्भाव मानते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—[3]उच्च (उदात्त) तथा अनुदात्त के योग होने पर स्वरित स्वर कहलाता है। उनकी एकता को प्रचय-स्वर कहते हैं। एकश्रुति भी अस्वर्य व्यवस्था का अपवाद है, अैस्वर्य का नही। बिना अैस्वय के तो अक्षर का उच्चारण ही नही हो सकता। अत स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित तीन ही हैं। शेप सभी स्वरो का इन्ही मे अन्तर्भाव है।

साममन्त्र मे षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद भेद से जो सात स्वर बतलाये गये हैं वे भी उदात्तादि तीन स्वरो से अतिरिक्त नही हैं।

---

१ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित प्रचितस्तथा
निघातश्चेति विज्ञेय स्वरभेदास्तु पञ्चधा ॥

२ य एवोदात्त इत्युक्त स एव स्वरितात्पर।
प्रचय प्रोच्यते तज्ज्ञैर्न चात्रान्यत् स्वरान्तरम् ॥

३ उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरित स्वर उच्यते।
ऐक्य तत्प्रचय प्रोक्त सन्धिरेषां मियोऽद्भुत ॥

क्योंकि [1]निषाद व गान्धार उदात्तप्रभव, ऋषभ व धैवत अनुदात्तप्रभव तथा षड्ज, मध्यम व पंचम स्वरितप्रभव माने गये हैं। इस प्रकार पाणिन्यादि ने उन सातों का उदात्तादि तीन स्वरों में ही अन्तर्भाव कर दिया है। याज्ञवल्क्य आदि ने भी इसी तथ्य को स्वीकृत किया है। उन्होंने कहा है कि [2]गन्धर्व वेद में जो षड्ज आदि सात स्वर बतलाये गये हैं, वे ही वेद के उदात्तादि तीन स्वर हैं। निषाद व गान्धार को उदात्त, ऋषभ तथा धैवत को अनुदात्त, षड्ज, मध्यम व पंचम को स्वरित जानना चाहिए।

वस्तुतः तो उदात्तादि स्वरों का कारण प्रक्रमगत उच्चत्व नीचत्वादि हैं। तथा षड्जादि स्वर ध्वनिरागभेद-मूलक हैं। यही उदात्तादि तथा षड्जादि स्वरों में मौलिक भेद है। जैसा कि नारद ने कहा है—

[3]मयूर षड्ज स्वर में बोलता है, गायें ऋषभ स्वर में रंभाती हैं। अज और अवि गान्धार का उच्चारण करते हैं। क्रौंच मध्यम स्वर तथा वसन्त में कोकिल पंचम स्वर बोलती है। घोड़ा धैवत तथा हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है। इन षड्जादि स्वरों के उच्चारणोपयोगी स्थानों का निर्देश विशेष रूप से नारदशिक्षा में किया गया है। ये सातों स्वर संगीत में उपयोगी हैं। साधारण उच्चारण में इनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। अतः इनका विशेष विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। सर्वसाधारण उदात्तादि तीन स्वर ही हैं। इन तीनों स्वरों में लिपिभेद यद्यपि नहीं है, तथापि अनुदात्त को अक्षर के नीचे तिरछी रेखा (अ॒) के द्वारा, स्वरित को ऊपर तिरछी रेखा (अ॑) के द्वारा,

---

१ उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

२ गान्धववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

३ षड्जं वदति मयूरो गावः रम्भन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो वक्ति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः॥

उदात्त को ऊपर दण्डाकार रेखा (अ॑) के द्वारा तथा प्रचय को स्वरित व उदात्त की मिली हुई रेखाओ (अ॑) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्वरों की यह अनुभवगम्य त्रिविधता प्रक्रमभेद के द्वारा मालूम करनी चाहिए।

२ मुखस्थान से वर्णभेद

सयोग, विभाग व शब्द से शब्द की उत्पत्ति भगवान् कणाद बतलाते हैं। वहाँ सयोग मे जो स्थायी भाव है वही सयोग का प्रतियोगी है। इसे ही स्थान कहते है। सयोग में जो सचारी भाव है वही सयोग का अनुयोगी है। उसे करण कहते हैं। ये स्थान और करण बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के है। वायु के प्रक्रम मे मुख मे आने से पहिले जो वायु के स्थान और करण हैं वे बाह्य हैं। और मुखप्रदेश के अन्दर वर्तमान स्थान और करण आभ्यन्तर कहलाते है। बाह्य स्थान उर, कण्ठ व शिरोभेद से तीन हैं। मुख मे कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठभेद से पाँच स्थान है। जिह्वा का मूलभाग कण्ठ है। मुख में दन्त व उलूखल स्थान के पूर्व भीतरी प्रदेश म झुका हुआ जो प्रदेश है उसका पूर्व पार्श्व तालुमूलस्थान है। उसी का पश्चिमपार्श्व मूर्धा स्थान है। उसके अत्यन्त समीप का पश्चिम भाग दन्तमूल स्थान है। उत्तर (ऊपर का) ओष्ठ ओष्ठ-स्थान हैं। इन पाँचो स्थानो मे क्रमश जिह्वामूल, जिह्वामध्यमभाग, जिह्वा का उपाग्र भाग, जिह्वा का अग्रभाग तथा अधरोष्ठ इन पाचो करणो का सयोग होने पर सब वर्ण उत्पन्न होते हैं।

वायु जिस मात्रा मे जिस प्रक्रम से आरम्भ होकर कण्ठ स्थान मे पहुँच कर अकार बनती हैं। उसी मात्रा मे उसी प्रक्रम से प्रारम्भ होकर तालुस्थान मे पहुँच कर वह इकार बनती है। इसी प्रकार मूर्धस्थान म ऋकार, दन्तमूल मे लृकार तथा ओष्ठ में उकार बनती है। एक ही प्राणवायु भिन्न-भिन्न स्थानो मे पहुँच कर अकार, इकार, ऋकार, लृकार व उकार इन भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे परिणत हो जाती है। अत एक ही अकार अक्षर के, स्थानभेद के कारण ये पञ्चविध रूप बन जाते हैं। यहा प्रक्रमभेद से भिन्न-उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरो का समान रूप से कण्ठादि स्थानों से सम्बन्ध है। अत इनके पाँच ही स्थान सिद्ध होते हैं। उदात्तादि भेदों के कारण स्थानादि का भेद नही होता।

¹कितने ही ऐसा मानते है कि मुखादिकण्ठभाग मे कृकाटिका, जिह्वामूल व कण्ठमूल ये तीन स्थान हैं। मुखमध्यभाग मे तालु, मूर्धा व दन्तमूल ये तीन स्थान है। मुखान्त्यभाग मे सृक्का, उपध्मा व ओष्ठ ये तीन स्थान है। सारे मुख मे अनुगत नासानाडी नासिका स्थान है। इस प्रकार वर्णों के दश आभ्यन्तर स्थान हैं। इनमे सृक्का व उपध्मा, जो कि ओष्ठ के पास है, का ओष्ठ मे ही अन्तर्भाव है।

भगवान् पाणिनि ने उर, कण्ठ, शिरस्, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु ये आठ वर्णस्थान बतलाये हैं। उनमे उपर्युक्त कण्ठ, तालु, शिर, दन्त, ओष्ठ इन स्थानो से उरस, जिह्वामूल तथा नासिका ये तीन अधिक है। इनमे ²वर्गों के पचम वर्णों तथा अन्तस्थ वर्णों से सयुक्त हकार का (उर स्थान) है तथा असयुक्त हकार का कण्ठस्थान है। इस नियम के अनुसार ह्व, ह्ल, ह्र, ह्य, ह्न, ह्ण, ह्म मे हकार का उर स्थान है। ᳵक ᳵख मे ककार व खकार से पूर्व उच्चारित अर्ध-विसग-सदृश हकार का जिह्वामूल स्थान है। ये दोनो स्थान कण्ठ के समीपस्थ अवान्तर प्रदेश होने से कण्ठ मे ही अन्तर्भूत है। इसी प्रकार कृकाटिकामूल, जिह्वामूल व कण्ठमूल के कण्ठ के अवान्तरप्रदेश होने से कण्ठ स्थान से ही इनका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार पाँच ही स्थान अव-शिष्ट रहते है। नासिका का भी कण्ठादि पाँच स्थानो से युक्त होने के कारण कण्ठादि स्थानो के समीप होने से कण्ठादि स्थानो से ही उसका ग्रहण है और उन्ही मे उसका अन्तर्भाव है। इस प्रकार अवान्तर भेदो को पृथक् स्थान मानने पर दश और सक्षेप मे पाँच ही स्थान हैं। नासिकास्थान का इतर पाँच कण्ठादि स्थानो के साथ कोई विरोध न होने से मुख तथा नासिका से उच्चरित पाँच स्वर और बन जाते हैं—अँ-इँ-ऋँ-लृँ-उँ। ये पाँच अनुनासिक स्वर है। ऋकार व लृकार मे स्वरभक्ति के नासिक्य होने से अनुनासिकता है।

३ काल से वर्णभेद

अकार के उच्चारण मे जितना काल लगता है उस काल को मात्रा कहते

---

१ अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा।
जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
२ हकार पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च सयुतम्।
औरस्य त विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसयुतम्॥

है। [1]औदव्रजि ने निमेषकाल को तथा [2]नारद ने निमेषकाल अथवा विद्युन्मेष काल को मात्रा कहा है। इस मात्रा के तारतम्य से वर्णों की मात्राओं का नियमन है। अकार जब अकार से मिलता है तब परतोयोग से वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ हो जाता है। द्विमात्रिक को ही दीर्घ कहते है। अकार का जब आकार से मेल होता है तब वह स्वभाव से अभिनिहित हो जाता है। दोनो स्वरो के नाभिद्वय की एकता ही अभिनिधान है। अधिक बलवाले मे स्वल्प बल वाले का विलयन स्वाभाविक है। अत अकार की आकार से सन्धि (मेल) होने पर अधिक बल वाले द्विमात्रिक दीर्घ आकार मे एकमात्रिक ह्रस्व अकार का विलयन होकर आकारमात्र ही शेष रह जाता है वह त्रिमात्रिक नही होने पाता। आकार का अकार से या आकार से मेल होने पर दोनो वर्णों के नाभिद्वय के सम्बन्ध से अभिनिधान हो जाता है। अत द्विमात्रिकता ही उसमें रहती है, त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नही आती। क्योकि परतोयोग के बिना वर्ण मे त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नही आती। प्रयत्नविशेष के द्वारा परतोयोगविवक्षा मे तो त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता भी बन सकती है। त्रिमात्र या चतुर्मात्र अक्षर की प्लुतसज्ञा होती है। इस प्रकार मात्रा के तारतम्य से अकार के ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये तीन भेद हो जाते है। एक मात्रा से उच्चारित अकार ह्रस्व, द्विगुण मात्रा से उच्चारित दीर्घ तथा त्रिगुण या उससे अधिक मात्रा से उच्चारित स्वर प्लुत कहलाता है। इस प्रकार इकारादि वर्णों मे मात्रातारतम्य के कारण यह त्रिविधता होती है। लृकार मे द्विमात्रता नही होती। अत जहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध अकारादि वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से प्रत्येक के तीन भेद होकर ९, ९ भेद हो जाते हैं, वहाँ लृकार के ६ ही भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही अकार के प्रक्रम-भेद से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद, पाच स्थानो के भेद से अ, इ, ये भेद तथा मात्राभेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद होते हैं। ये ४[illegible] अर्थात् निरनुनासिक अकार के हैं। इतने ही भेद सानुनासिक के प्रकार ८४ भेद अकार के हो जाते है।

---

१ निमेषकालो मात्रा स्यात्।

२ निमेषकालो मात्रा स्यात् विद्युत्कालेति

४ आभ्यन्तर प्रयत्न से वर्णभेद

मुख के अन्दर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ इन पाँचो स्थानो मे जिह्वामूलभाग आदि करणो का सयोग के लिए जो प्रयत्न है, उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा विवृत भेद से दो प्रकार का है। जिस प्रयत्न से स्थानो मे करणो के स्पर्श का तारतम्य होता है, उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते है —

(१) अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये अस्पृष्ट स्वर हैं।

(२) ऽ य र ल व — ये ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण है।

(३) अ य ड द व — ये दु स्पृष्ट अन्त स्थ वर्ण है।

(४) ग ज ड द ब — ये मृदुस्पृष्ट स्पर्श वर्ण है।

विवृत को विवरण या सम्प्रसारण कहते है। जिस प्रयत्न से स्थानो से सयोगकाल मे करण तरतमभाव से (न्यूनाधिक भाव से) सम्प्रसारित होते है, वह स्पर्श विरोधी धर्म विवृत कहलाता है। अत विवृत प्रयत्न मे स्पर्श का अभाव होता है। इसीलिए अ, इ, ऋ, लृ उ — ये पूर्ण विवृत स्वर हैं। इनमें स्थान व करण के स्पर्श का सर्वथा अभाव है। स्थानो मे करण स्पर्श के लिए जितना प्रयत्न करते है, उतनी ही विवृत प्रयत्न मे कमी आती है। स्पर्श की न्यूनाधिकता से विवृत मे न्यूनाधिकता होती है।

सम्प्रसारित स्थान करण वाले वर्णो मे एक-एक वर्ण की जितनी मात्रा होती है, उसके अर्धांश का ह्रास होने पर विवृतार्ध प्रयत्न द्वारा इनम सकोच हो जाता है। और तब वे एकमात्रिकतारूप स्वर से च्युत होकर अर्धमात्रिक व्यजन हो जाते हैं। जैसे— ऽ य र ल व ये अर्धविवृत अन्तस्थ वर्ण व्यजन है। इन पाँचो अन्तस्थवर्णो म प्रथम वर्ण विवृत्ति है। यह अर्धमात्रिक वर्ण है। अभिनिधान, सन्ध्यक्षर, उष्मान्त स्थ गति म विवृत्ति होती है। जैसे— हरेऽव, विष्णोऽव यह अभिनिधान स्थान है। ए, ओ ये सन्ध्यक्षर स्थान है। इकार व अकार की सधि होने पर जसे इकार पर अर्ध मात्रा से च्युत हो जाता है। उसी प्रकार अकार व इकार की सन्धि होने पर पूर्व अकार, पर अर्धमात्रा से रहित होकर अर्धमात्र अकार शेष रह जाता है। जैसा कि पाणिनि ने कहा है—

है। [1]औदव्रजि ने निमेषकाल को तथा [2]नारद ने निमेषकाल अथवा विद्युदुन्मेष काल को मात्रा कहा है। इस मात्रा के तारतम्य से वर्णों की मात्राओं का नियमन है। अकार जब अकार से मिलता है तब परतोयोग से वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ हो जाता है। द्विमात्रिक को ही दीर्घ कहते है। अकार का जब आकार से मेल होता है तब वह स्वभाव से अभिनिहित हो जाता है। दोनो स्वरो के नाभिद्वय की एकता ही अभिनिधान है। अधिक बलवाले मे स्वल्प बल वाले का विनयन स्वाभाविक है। अत अकार की आकार से सन्धि (मेल) होने पर अधिक बल वाले द्विमात्रिक दीर्घ आकार में एकमात्रिक ह्रस्व अकार का विलयन होकर आकारमात्र ही शेष रह जाता है वह त्रिमात्रिक नही होने पाता। आकार का अकार से या आकार से मेल होने पर दोनो वर्णों के नाभिद्वय के सम्बन्ध से अभिनिधान हो जाता है। अत द्विमात्रिकता ही उसमे रहती है, त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नही आती। क्योंकि परतोयोग के बिना वर्ण मे त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नही आती। प्रयत्नविशेष के द्वारा परतोयोगविवक्षा मे तो त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता भी बन सकती है। त्रिमात्र या चतुर्मात्र अक्षर की प्लुतसंज्ञा होती है। इस प्रकार मात्रा के तारतम्य से अकार के ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये तीन भेद हो जाते है। एक मात्रा से उच्चारित अकार ह्रस्व, द्विगुण मात्रा से उच्चारित दीर्घ तथा त्रिगुण या उससे अधिक मात्रा से उच्चारित स्वर प्लुत कहलाता है। इस प्रकार इकारादि वर्णों में मात्रातारतम्य के कारण यह त्रिविधता होती है। लृकार मे द्विमात्रता नही होती। अत जहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध अकारादि वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से प्रत्येक के तीन भेद होकर ९, ९ भेद हो जाते हैं, वहाँ लृकार के ६ ही भेद होते है। तात्पर्य यह है कि एक ही अकार के प्रक्रम-भेद से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद, पाच स्थानो के भेद से अ, इ, ऋ, लृ उ ये भेद तथा मात्राभेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद होते है। ये ४२ भेद विशुद्ध अर्थात् निरनुनासिक अकार के है। इतने ही भेद सानुनासिक के होते हैं। इस प्रकार ८४ भेद अकार के हो जाते है।

---

१ निमेषकालो मात्रा स्यात्। इत्यौदव्रजि।

२ निमेषकालो मात्रा स्यात् विद्युत्कालेति चापरे। नारद।

४ आभ्यन्तर प्रयत्न से वर्णभेद

मुख के अन्दर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ इन पाँचों स्थानों में जिह्वामूलभाग आदि करणों का संयोग के लिए जो प्रयत्न है, उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा विवृत भेद से दो प्रकार का है। जिस प्रयत्न से स्थानों में करणों के स्पर्श का तारतम्य होता है, उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं —

(१) अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये अस्पृष्ट स्वर हैं।

(२) ऽ य र ल व — ये ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।

(३) अ य ड द व — ये दुःस्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।

(४) ग ज ड द व — ये मृदुस्पृष्ट स्पर्श वर्ण हैं।

विवृत को विवरण या सम्प्रसारण कहते हैं। जिस प्रयत्न से स्थानों में संयोगकाल में करण तरतमभाव से (न्यूनाधिक भाव से) सम्प्रसारित होते हैं, वह स्पर्श विरोधी धर्म विवृत कहलाता है। अतः विवृत प्रयत्न में स्पर्श का अभाव होता है। इसीलिए अ, इ, ऋ, लृ उ — ये पूर्ण विवृत स्वर हैं। इनमें स्थान व करण के स्पर्श का सर्वथा अभाव है। स्थानों में करण स्पर्श के लिए जितना प्रयत्न करते हैं, उतनी ही विवृत प्रयत्न में कमी आती है। स्पर्श की न्यूनाधिकता से विवृत में न्यूनाधिकता होती है।

सम्प्रसारित स्थान करण वाले वर्णों में एक-एक वर्ण की जितनी मात्रा होती है, उसके अर्धांश का ह्रास होने पर विवृतार्ध प्रयत्न द्वारा इनमें संकोच हो जाता है। और तब वे एकमात्रिकतारूप स्वर से च्युत होकर अर्धमात्रिक व्यंजन हो जाते हैं। जैसे— ऽ य र ल व ये अर्धविवृत अन्तस्थ वर्ण व्यंजन हैं। इन पाँचों अन्तस्थवर्णों में प्रथम वर्ण विवृत्ति है। यह अर्धमात्रिक वर्ण है। अभिनिधान, सन्ध्यक्षर, उष्मान्त स्थ गति में विवृत्ति होती है। जैसे— हरेऽव, विष्णोऽव यह अभिनिधान स्थान है। ए, ओ ये सन्ध्यक्षर स्थान हैं। इकार व अकार की संधि होने पर जैसे इकार पर अर्ध मात्रा से च्युत हो जाता है। उसी प्रकार अकार व इकार की सन्धि होने पर पूर्व अकार, पर अर्धमात्रा से रहित होकर अर्धमात्र अकार शेष रह जाता है। जैसा कि पाणिनि ने कहा है—

[1]एकार, ओकार मे कण्ठस्थानीय अकार की अर्धमात्रा ही शेष रहती है। यह अकार अर्धमात्र होने से व्यजन है। और पूर्ण स्पृष्ट न होने से स्वर भी है। इस प्रकार स्वर व व्यजन दोनो के धर्मों के सम्बन्ध से यह अन्त स्थ कहलाता है। विवृत्ति का तीसरा स्थान उष्मान्त स्यगति है। जैसे—'सदच इह, हर इह, विष्ण इह' इन उदाहरणो मे है। 'सदच इह' में ऊष्म हकार या विसग अर्धमात्र विवृत्यकार हो जाता है। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

[2]हकार की–ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूल और उपध्मा ये ८ गतियाँ हैं। वह विवृत्यकार व्यजन है। उसके कारण पूर्व अकार तथा इकार का विच्छेद हो जाने से उनमे स्वरसन्धि नही होती। इसी प्रकार हर इह, विष्ण इह, इन उदाहरणो मे अन्त स्थ य और व विवृत्यकार बन गये हैं। उस व्यजन से विच्छेद होने के कारण स्वरसन्धि नही होती है। यहाँ विवृत्ति का स्वरूप दोनो स्वरो के मध्य मे विच्छेद ही है। शाकल्य ने यहाँ य और व का लोप माना है, वह ठीक नही है। क्योकि वर्णलोप होने पर स्वरसन्धि अवश्य होती। वैयाकरणो द्वारा कल्पित 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र मे यकार-लोपादि को असिद्ध मानकर सन्ध्यभाव बतलाना बालशिक्षोपयोगी कल्पनामात्र है। क्योकि शास्त्रीय प्रक्रियाविशेष की शब्दोच्चारणविशेष के आधान मे सामर्थ्य नही है। शास्त्र केवल शब्द की स्थिति का बोधक होता है न कि शब्दस्थिति का जनक। इसलिए 'हर इह' इत्यादि स्थलो मे यकारादि-लोप प्रक्रिया से पाणिनि को सन्तोष नही हुआ और उन्होने 'लोप शाकल्यस्य' कहा। अर्थात लोप द्वारा सन्ध्यभाव का प्रतिपादन शाकल्य का मत है न कि पाणिनि का। पाणिनि के मत मे तो य और व के स्थान मे विवृत्ति रूप वर्णादेश होता है। उस विवृत्यकार के द्वारा विच्छेद होने से अकार व इकार मे सन्धि नही होती। इन अन्तस्थ वर्णो को मुख व नासिका दोनो स्थानो से उच्चारण करने पर यँ वँ लँ ऐसे अनुनासिक वर्ण होते हैं। रेफ नासिक्य नही होता। और विवृत्ति भी नासिक्य नही होती। अ य ड ळ व ये ईषद्विवृत अन्तस्थ वर्ण हैं। इनमे पहिला वर्ण 'अ' सवृत अकार है। 'ऐ', और 'औ' मे जो अकारोच्चारण की प्रतीति होती है वह सवृत अकार है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है —

---

१ अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्। पा० शि०।

२ ओभावश्च विवृतिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥ पा० शि०

[1]एकार व ओकार मे आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण की तथा ऐकार व औकार मे भी आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार की है। वे चारो वर्ण विवृत व संवृत उभयात्मक हैं। संवृत एकमात्रिक होता है और विवृत द्विमात्रिक होता है।

[2]पाणिनि ने स्वरो व ऊष्म वर्णों का विवृत करण माना है। ए और ओ को विवृततर तथा ऐ औ को विवृततम बतलाया है। वह सन्ध्यक्षरता के कारण बतलाया है। और संवृतत्वकथन ओकार के एक प्रदेश (अकार) की अपेक्षा से किया है। एकारादि सन्ध्यक्षरो मे संवृत अन्त स्थ अकार मध्यम मे विद्यमान है अत इन मे स्वरत्व नही रहेगा यह भ्रम निराधार है। क्योकि विवृततरत्व व विवृततमत्व के कारण उनका स्वरत्व अक्षुण्ण है। म्लेच्छ भाषा-लिपि मे भी दो प्रकार के अकार हैं। जैसे—पारसी लिपि मे विवृत अकार का (।) अलिफ शब्द से तथा संवृत अकार का 'अयन' 'ع' शब्द से उल्लेख किया है। 'अ अ' इस सूत्र का निर्माण करते हुए भगवान् पाणिनि ने भी अकार के इस द्वैविध्य का उपदेश किया है। उन दोनो अकारो मे संवृत अकार अन्तस्थ है क्योकि वह व्यंजन है। और दूसरा अकार स्वर होने से विवृत है क्योकि [3]स्वर और ऊष्म वर्णों का विवृत प्रयत्न पाणिनि ने बतलाया है।

'ऐ औ' इत्यादि में पृथक् रूप से अकारोच्चारणप्रतिबन्ध के लिए उसके उच्चारण मे प्रयत्नविशेष की अपेक्षा होने से ऐकार औकार के अन्तर्गत अकार को दु स्पृष्ट अकार मानना चाहिये। ईषत्स्पृष्ट व पूर्ण स्पृष्ट वर्णों के बीच मध्यम वृत्ति से स्पर्शसिद्धि के लिए प्रयत्नविशेष की वहाँ अपेक्षा है। ग, ज, ड, द, ब विवृत रहित स्पर्श हैं। यदि ये पाँचो स्पर्श वर्ण मुख व नासिका दोनो स्थानो से उच्चारित किये जाते है तो स्थान-द्वय-योगी बनकर ङ, ञ, ण, न, म ये वर्ण बन

---

१ अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥
संवृत मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्। (पा० शि०)

२ स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामचौ तथैव च॥ पा शि

३ स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्। पा शि।

जाते हैं। शुद्ध स्पर्शों की तरह ये नासिक्य वर्ण भी पूर्ण स्पृष्ट व विवृतप्रयत्न-रहित ही है।

५ बाह्य-प्रयत्न से वर्णभेद

वर्णरूप मे परिणत होने मे पूर्व की अवस्था मे विद्यमान वर्णों का उपादानभूत वायु अनुप्रदान कहलाता है। मुख स्थान से बहिर्भूत उर, कण्ठ व शिर स्थान में सयोग के लिए वर्णोपादानभूत वायुरूप अनुप्रदान का जो प्रयत्न है, वह बाह्य प्रयत्न है। यह बाह्य प्रयत्न दो प्रकार का है सवार, नाद, घोष भेद से तीन प्रकार का प्रथम है और विवार, श्वास, अघोष भेद से त्रिरूप द्वितीय है। जिस उच्चारण मे अनुप्रदान मृदु होने से बाह्य नली को फैलने नही देता है वह सवार कहलाता है। और खर होने से जो अनुप्रदान कण्ठनली को फैला देता है वह विवार है। जिस उच्चारण मे वर्णस्वरूप का आरम्भ करने के लिए अनुप्रदान म वायु की मात्रा अधिक होती है और प्राणरूप अग्नि की मात्रा कम होती है उसे श्वास प्रयत्न कहते है तथा प्राणरूप तेज की मात्रा जहाँ अधिक और वायु की मात्रा न्यून होती है, उसे नाद कहते है। जिस प्रयत्न मे दृढ अग-बन्धन से उच्चारित वर्ण में प्रतिध्वनियोग्यता कम होती है, वह अघोष कहलाता है तथा जिस प्रयत्न मे शिथिल अगबन्ध के कारण वर्ण मे प्रतिध्वनियोग्यता अधिक होती है उसे घोष कहते हैं। इनमे सवार, नाद व घोष परस्पर उपकारक होने से अविनाभूत है। अर्थात् जहाँ एक रहता है वहाँ शेष दो भी अवश्य रहते है। अत इन प्रयत्नो के सख्या मे ६ होने पर भी तीन-तीन के परस्पर अविनाभूत होने से वस्तुत अनुप्रदान प्रयत्न के दो ही भेद है। इसलिए सवार, नाद, घोष रूप बाह्य प्रयत्न वाले अ, य, र, ल, व, अ, य, ड, ळ, व, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म वर्ण सिद्ध हो जाते है। ये ही वर्ण जब विवार श्वास अघोष रूप अनुप्रदान से युक्त होते है तब क, च, ट, त, प हो जाते है। विवार, श्वास, अघोष प्रयत्नो का नासानाडी से विरोध है अत क, च, ट, त, प, नासिक्य नही होते। अत ङ, ञ, ण, न, म वर्ण भी जब श्वास प्रयत्न से युक्त होंगे, तो विशुद्ध क च, ट, त, प मे ही परिणत होंगे न कि नासिक्य क, च, ट, त, प मे।

[1]पाणिनि ऽ य र ल व इन अन्तस्थ वर्णों तथा ग, ज, ड, द, ब इन वर्णों

ईषन्नादा यण जशो नादिनो हभ्य स्मृता।
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात् श्वासिनस्तु खफादय॥ (पा० शि०)

श्वास है। पूर्ण स्पृष्ट प्रयत्न वाले क, च, ट, त, प वर्ण यदि आभ्यन्तर प्रयत्न मे अर्द्धस्पृष्ट रूप से उच्चारित होते हैं तो वे श, ष, स, ह ये ऊष्म वर्ण हो जाते हैं। यद्यपि क, च, ट, त, प पाँच वर्ण हैं और ऊष्म वर्ण श, ष, स, ह भेद से चार ही हैं, तथापि अर्ध स्पृष्टत्व से उच्चारण करने पर क और प दोनो वर्ण हकाररूप मे ही परिणत होते हैं, अत ऊष्म वर्ण चार ही हैं। श, ष, स, ह ये नासिक्य नही होते। क्योकि विवार, श्वास व अघोष बाह्य प्रयत्न नासा नाडी के विरोधी है। पाणिनि ने भी 'अमोऽनुनासिका न ह्रौ' इस उक्ति के द्वारा नादप्रयत्न वाले रेफ व हकार की तथा श्वास प्रयत्न वाले सभी वर्णो की अनुनासिकता का निषेध किया है। इस प्रकार द्विविध बाह्य प्रयत्नो से ३४ वर्ण निष्पन्न होते है। उनमे आदि के ५ स्वर (अ, इ, ऋ, लृ, उ,) तथा २९ व्यंजन (अ, य, र, ल, व, अ, य, र, ळ, व, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म, क, च, ट, त, प, श, ष, स, ह) सम्मिलित है।

सन्ध्यक्षरो के स्थान व प्रयत्न

यौगिक वर्णों मे दो सवर्णो (समान स्थान व समान आभ्यन्तर प्रयत्न वालो) के योग मे स्थानभेद नही होता है। अत ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत वर्णो का स्थान समान ही होता है। अत अ, आ, अ३ ये तीन कण्ठ्य हैं। इ, ई, इ३ ये तीनो तालव्य है। इसी प्रकार ऋकारादि वर्णो मे भी समझना चाहिए। विभिन्न स्थान वाले वर्णो की सहिता मे सध्यक्षर द्विस्थान वाले होते है। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

'ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ। इति।

हकार का पूव तथा पर दोनो प्रकार से सयोग होता है। वर्गो के पञ्चम वर्णो एव अन्तस्थ वर्णो के परे होने पर हकार का पूर्व सयोग होता है और वहाँ हकार उरस्थानीय होता है। जैसे ह्ल, ह्न, ह्म, ह्य, ह्ल, ह्ण, ह्व मे। क और ख के होने पर हकार का जिह्वामूल स्थान तथा प और फ के परे होने पर उपध्मा स्थान होता है, ऐसा शाकटायन मानते हैं। क, च, ट, त प, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म तथा र, ल, ड ळ से परे जब हकार होता है तब उसका परसयोग होता है और उस समय हकार आश्रयस्थानभागी होता है। इससे क, च, ट, त, प से हकार का सयोग होने पर ख, छ, ठ, थ,

फ एव ग, ज, ड, द, ब से पश्चात् हकार का सयोग होने पर घ, झ, ढ, ध, भ वर्ण निष्पन्न होते हैं। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

[1]अ और ह कण्ठस्थानीय है। इकार, चवग, य और श तालव्य है। उ और पवग ओष्ठ्य है। ऋ, टवग, र, ष मूधन्य हैं। लृ, तवर्ग, ल, न दन्त्य है। कवर्ग जिह्वामूलस्थानीय है। ङ, ण न, म तथा र और ल लोकभाषा म सोष्म उपलब्ध होते है। जैसे साङ्हा, कान्हा, माम्हर, गेल्हा आदि शब्दो में। छन्दोभाषा मे सोष्म ङकारादि का प्रयोग नही मिनता। अत कात्यायन ने उन वर्णों को सोष्म वर्णों में गणना न कर दश वर्णों को ही सोष्म बतलाया है। अर्थात् [2]वर्गों के द्वितीय तथा चतुथ वण सोष्म है। हकार यद्यपि अर्ध-स्पृष्ट है तथापि जिन ककारादि से इसका सयोग होता है वे पूर्ण स्पृष्ट हैं। अत द्वितीय तथा चतुर्थ सोष्म वर्णों का भी पूण स्पृष्ट ही माना जाता है। इसीलिए पाणिनि ने [3]स्वरो को अस्पृष्ट, य, र, ल, व को ईषत्स्पृष्ट, श, ष, स, ह को अर्ध-स्पृष्ट तथा शेष वर्णों को पूर्ण स्पृष्ट बतलाया है। इन सभी वर्णों के समान रूप से स्पृष्ट प्रयत्न वाले होने पर भी इनके बाह्य प्रयत्नो मे भेद है। वर्गों के प्रथम-क, च, ट, त, प तथा तृतीय ग, ज, ड, द, ब अल्पप्राण हैं एव वर्गों के द्वितीय-ख, छ, ठ, थ, फ एव चतुथ-घ, झ, ढ, ध, भ महाप्राण हैं।[4]

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ मे गुणपरिष्कार नामक तृतीय प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त ॥ ३ ॥

---

१ कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसा स्मृता ॥
जिह्वामूले तु कु प्रोक्तो दन्त्योष्ठो व स्मृतो बुधै। पा० शि०।

२ 'द्वितीयचतुर्था सोष्माण।' इति।

३ अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टा शल स्मृता।
शेषा स्पृष्टा हल प्रोक्ता निबोधानुप्रदानत ॥ पा० शि० ॥

४ ईषन्नादा यण जशो नादिनो हझष स्मृता।
ईषच्छ्वासांश्चरोविद्यात् श्वासिनस्तु खफादय ॥ पा शि

अक्षरनिर्देशात्मक चतुर्थ प्रपाठ

मन्त्र को जानने की इच्छा वाला पुरुष प्रत्येक पद मे स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा उनके प्रयोग तथा अर्थ को जाने। (१) वेद के अध्ययन से, उसके दान मे, उसके श्रवण से तथा वेद के वर्णो अक्षरो विभक्तियो व पदो के ज्ञान से धर्म होता है। (२) इस कात्यायनोक्ति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि वर्णज्ञानपूर्वक तथा अक्षरज्ञानपूर्वक वेदार्थज्ञान ब्राह्मणो का निष्कारण कर्त्तव्य है। वहाँ वर्णज्ञान का निरूपण हो चुका। अक्षरज्ञानसिद्धि के लिए इस प्रकरण का का आरभ किया जाता है।

ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है। त्रिभेदभिन्न यह ब्रह्म विश्व बनता है। ब्रह्म के तीन भेद पर, अक्षर व क्षर हैं। दिग् देश, काल से अनवच्छिन्न होता हुआ भी जो क्षर तथा अक्षर का आलम्बन (आधार) होने से मन की तरह परिच्छिन्न होता है वही अव्यय नामक परब्रह्म है। वही चिति के द्वारा मन, प्राण व वाग् बनता है। इस मनोमय अव्यय मे अवलम्बित प्राणमय तथा क्षरो का सचालक कूटस्थ तत्व अक्षर[1] कहलाता है। अक्षर मे अवलम्बित वाङ्मय यह समग्र भूतसमूह क्षर[2] कहलाता है। इन अव्यय (पर) अक्षर व क्षर से भिन्न कोई कोई तत्व ससार मे नहो है। अव्यय, अक्षर व क्षर तीनो पुरुष मिलकर एक पुरुष है। जिसे वेद म षोडशी कहा है। उस पुरुष को विशुद्ध आत्मा भी कह सकते हैं, विग्रहवान् आत्मा भी, तथा अनेक विग्रहवानो (शरीरधारियो) से बना हुआ स्कन्ध (भूतग्राम) भी। जो कुछ भूत व भव्य जगत् मे दृष्टिगोचर होता है, वह पुरुष[3] ही है। वह पुरुष मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय है।

वेद मे कहा है कि 'अथो वागेवेद सर्वम्'। अर्थात् सब कुछ वाक् ही है। वाग् आकाश को कहते हैं। वही वायु है, तेज है, जल है व पृथिवी है। यह पृथिवी जल पर प्रतिष्ठित है, जल तेज मे, तेज वायु मे, वायु आकाश रूप वाक्तत्व म। इसलिये ये सब विकार (कार्य) वाक्तत्व से भिन्न नही हैं।

---

१ कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

२ क्षर सर्वाणि भूतानि।

३ पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम्।

इसलिये जगत् मे जो कोई भी भूतसमूह दिखाई देता है, वह सब वाक ही है। इसलिये वेद मे कहा है—'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' इति।

वे सब क्षर, अक्षर के अधीन है, अत स्वतन्त्र नही रह सकते। इसलिये इनकी सत्ता का आधायक कोई स्वतन्त्र तत्व मानना होगा। वही तत्व अक्षर है। उसे ही प्राण कहते है। उस प्राण रूप अक्षर मे अनन्त गुण उत्पन्न होते है। इसलिये गुणभेद से प्राणो के अनन्तविध होने पर भी पाँच प्रकार के स्थानो मे रहने के कारण इस प्राण के पाँच भेद माने जाते है। ये ही पाँच प्रकार के प्राण पञ्च अक्षर कहलाते है। ये पञ्च अक्षर ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्ही पाँच अक्षरो से वाङ्मय तथा सभी क्षरात्मक भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। इन्ही प्राणो के आधार से ये भूत प्रतिष्ठित रहते हैं तथा अन्त मे उन्ही प्राणो मे विलीन हो जाते है। यह परब्रह्मविद्या है अर्थात् यह स्थिति परब्रह्म मे है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनो तत्वो मे जिनको कि अव्यय, अक्षर, क्षर भी कहते हैं। यह वाक्तत्व भूतभाव, शब्दभाव व अर्थभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है। वाग् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से उत्पन्न भूतसमूह ही भूतमय प्रपञ्च है। यह वाक् का एक प्रकार का विनियोग है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इस श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतो म अनुप्रविष्ट वागरूप आकाश ही आघात से कम्पित होता हुआ, वायु से पृथक् होकर वायु के आधार से चारो दिशाओ मे गोल (वृत्ताकार) वीचीतरग को उत्पन्न करता ह। वह नाद रूप से कम्पमान वागाकाश चलता हुआ श्रोता के श्रोत्रप्रदेश मे पहुँचता है और श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द कहलाता है। यही शब्द शब्दमय प्रपञ्च तथा अर्थमय प्रपच रूप से दो प्रकार से विनियुक्त होता है। यही बात वाक्यपदीय मे भर्तृहरि ने कही है—

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्व यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥ इति।

यह शब्दमय तथा अर्थमय दोनो प्रकार का प्रपच वाङ्मय प्रपच ही। यही वाक्तत्व का शब्दरूप तथा अर्थरूप इन दो प्रकारो से विनियोग हैं। इस शब्दमय तथा अर्थमयरूप वाङ्मय प्रपच में वे ही प्रकार है जिन प्रकारो का

भूतमय प्रपच मे वर्णन किया है। वह वाङ्मय प्रपच भूतमय प्रपच से छोटा है क्योंकि यह भूतमय प्रपच का एकदेश है। अत परब्रह्म विद्या को जानने की इच्छा वाला पहिले शब्दमय ब्रह्मविद्या का परिशीलन करे। अल्पश्रम मे ज्ञात यह शब्दविद्या महायामसाध्य परविद्या के ज्ञान मे उपयोगी है इसीलिये मुण्डक श्रुति ने कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति॥

इस श्रुति मे ब्रह्म शब्द का अर्थ विज्ञान है। वह विज्ञान शाब्दविज्ञान तथा परविज्ञान भेद से दो प्रकार का है। विज्ञान तथा अभिनिवेश के द्वारा ज्ञानप्राप्ति भगवान् गौतम मानते हैं। शब्दश्रवणाधीन अर्थज्ञान विज्ञान है। इसे ही शाब्द ब्रह्म कहते हैं। परीक्षा द्वारा साक्षात्काराधीन अर्थज्ञान को परब्रह्म कहते हैं। पूर्व परीक्षकों, पदार्थतत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुषों के अधिगतार्थविषयक उपदेशरूप वाक्यार्थश्रवण में निष्णात पुरुष यदि परीक्षा के लिये प्रवृत्त होता है, तो उनका अभिनिवेशज्ञान समीचीन होता है। यह इस मत्र का प्रथम अर्थ है। अन्य प्रकार से भी इस मत्र की व्याख्या है—शब्द दो प्रकार से अर्थज्ञान कराता है अभिधानरूप से तथा प्रतीकरूप से। ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भी ब्रह्म है जैसा कि श्रुति बतला रही है—'एतद्वै सत्यकाम पर चापर च ब्रह्म यदोङ्कार।

वहाँ अभिधानपक्ष के अनुसार 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या ऊपर कर दी गई है। प्रतीक पक्ष मे इस मत्र का अर्थ निम्नलिखित है —

परा तथा अपरा ये दो विद्या हैं। परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपरा विद्या है। दोनो विद्याओ मे अत्यधिक साम्य है। अत शब्दसृष्टि-ज्ञान से उसकी समानता के कारण अर्थसृष्टिज्ञान सिद्ध हो जाता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं। जिस प्रकार पर विद्या मे अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है। उसी प्रकार अपर विद्या मे भी स्फोट, अक्षर, वर्ण भेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है। अपरविद्या मे वर्णों, अक्षरो, पदो, समस्त-पदो, वाक्यों व महावाक्यो मे एकत्वबुद्धि का कारण स्फोटरूप अव्यय है। जिस प्रकार परविद्या मे क्षर, अक्षर आदि का आलम्बन अव्यय पुरुष है, उसी

इसलिये जगत् में जो कोई भी भूतसमूह दिखाई देता है, वह सब वाक् ही है। इसलिये वेद में कहा है—'वागेवेमा विश्वा भुवनान्यजनि' इति।

वे सब क्षर, अक्षर के अधीन हैं, अन्य स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इसलिये इनकी सत्ता का आधायक कोई स्वतन्त्र तत्त्व मानना होगा। वही तत्त्व अक्षर है। उसे ही प्राण कहते हैं। उस प्राण रूप अक्षर में अनन्त गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुणभेद से प्राणों के अनन्तविध होने पर भी पाँच प्रकार के स्थानों में रहने के कारण इस प्राण के पाँच भेद माने जाते हैं। ये ही पाँच प्रकार के प्राण पञ्च अक्षर कहलाते हैं। ये पञ्च अक्षर ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्हीं पाँच अक्षरों से वाङ्मय तथा सभी क्षरात्मक भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। इन्हीं प्राणों के आधार से ये भूत प्रतिष्ठित रहते हैं तथा अन्त में उन्हीं प्राणों में विलीन हो जाते हैं। यह परब्रह्मविद्या है अर्थात् यह स्थिति परब्रह्म में है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्त्वों में जिनको कि अव्यय, अक्षर, क्षर भी कहते हैं। यह वाक्तत्त्व भूतभाव, शब्दभाव व अर्थभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है। वाग् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से उत्पन्न भूतसमूह ही भूतमय प्रपञ्च है। यह वाक् का एक प्रकार का विनियोग है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इस श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतों में अनुप्रविष्ट वाग्रूप आकाश ही आघात से कम्पित होता हुआ, वायु से पृथक् होकर वायु के आधार से चारों दिशाओं में गोल (वृत्ताकार) वीचीतरंग को उत्पन्न करता है। वह नाद रूप से कम्पमान वागाकाश चलता हुआ श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में पहुँचता है और श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द कहलाता है। यही शब्द शब्दमय प्रपञ्च तथा अर्थमय प्रपंच रूप से दो प्रकार से विनियुक्त होता है। यही बात वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कही है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति।

यह शब्दमय तथा अर्थमय दोनों प्रकार का प्रपंच वाङ्मय प्रपंच ही है। यही वाक्तत्त्व का शब्दरूप तथा अर्थरूप इन दो प्रकारों से विनियोग है। इस शब्दमय तथा अर्थमयरूप वाङ्मय प्रपंच में वे ही प्रकार हैं जिन प्रकारों का

भूतमय प्रपच मे वर्णन किया है। वह वाङ्मय प्रपच भूतमय प्रपच से छोटा है क्योकि यह भूतमय प्रपच का एकदेश है। अत परब्रह्म विद्या को जानने की इच्छा वाला पहिले शब्दमय ब्रह्मविद्या का परिशीलन करे। अल्पश्रम से ज्ञात यह शब्दविद्या महायाससाध्य परविद्या के ज्ञान म उपयोगी है इसीलिये मुण्डक श्रुति ने कहा है—

> द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
> शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

इस श्रुति मे ब्रह्म शब्द का अर्थ विज्ञान है। वह विज्ञान शाब्दविज्ञान तथा परविज्ञान भेद से दो प्रकार का है। विज्ञान तथा अभिनिवेश के द्वारा ज्ञानप्राप्ति भगवान् गौतम मानते हैं। शब्दश्रवणाधीन अर्थज्ञान विज्ञान है। इसे ही शाब्द ब्रह्म कहते है। परीक्षा द्वारा साक्षात्काराधीन अर्थज्ञान को परब्रह्म कहते है। पूव परीक्षको, पदार्थतत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुषो के अधिगतार्थविषयक उपदेशरूप वाक्यार्थश्रवण मे निष्णात पुरुष यदि परीक्षा के लिये प्रवृत्त होता है, तो उनका अभिनिवेशज्ञान समीचीन होता है। यह इस मत्र का प्रथम अर्थ है। अन्य प्रकार से भी इस मन्त्र की व्याख्या है—शब्द दो प्रकार मे अर्थज्ञान कराता है अभिधानरूप से तथा प्रतीकरूप से। ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भी ब्रह्म है जसा कि श्रुति बतला रही है—'एतद्वै सत्यकाम पर चापर च ब्रह्म यदोङ्कार।

वहाँ अभिधानपक्ष के अनुसार 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या ऊपर कर दी गई है। प्रतीक पक्ष मे इस मत्र का अर्थ निम्नलिखित है —

परा तथा अपरा ये दो विद्या हैं। परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपरा विद्या है। दोनो विद्याओ मे अत्यधिक साम्य है। अत शब्दसृष्टि-ज्ञान से उसकी समानता के कारण अर्थसृष्टिज्ञान सिद्ध हो जाता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं। जिस प्रकार पर विद्या मे अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है। उसी प्रकार अपर विद्या मे भी स्फोट, अक्षर, वर्ण भेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है। अपरविद्या मे वर्णो, अक्षरो, पदो, समस्त-पदो, वाक्यो व महावाक्यो मे एकत्वबुद्धि का कारण स्फोटरूप अव्यय है। जिस प्रकार परविद्या म क्षर, अक्षर आदि का आलम्बन अव्यय पुरुष है, उसी

स्फोटरूप अव्यय मे नित्य सम्बद्ध पाँच स्वरात्मक वर्ण अ, इ, उ, ऋ, लृ, अक्षर कहलाते हैं। इन्हीं पाँच अक्षरों से क्षरात्मक सारे व्यजनवर्ण उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार अक्षरो से उपगृहीत क्षर, अक्षरो मे आलम्बन अव्यय म प्रतिष्ठित रहते हैं, उसी प्रकार स्वररूप अक्षरो मे उपगृहीत व्यजनरूप क्षर अक्षरालम्बन स्फोटरूप अव्यय में प्रतिष्ठित रहते हैं। परन्तु क्षरात्मक व्यजन अक्षरात्मक स्वर के आश्रित रहते हैं और अक्षरात्मक स्वरसमूह अव्ययात्मक स्फोट मे सम्बद्ध होता हुआ अपना स्वरूप धारण करता है। ये व्यजन, स्वर और स्फोट तीनो एकीभूत एक वाक्तत्व हैं।

वाक्य का स्वरूप पदो से, पदो का अक्षरो से तथा अक्षरो का वर्णों मे निष्पन्न होता है। अत वाक्य, पद व अक्षर सभी का स्वरूप वर्णों मे ही बनता है। अक्षर वर्णों का आत्मा है, अत वर्णों से भिन्न है। अर्थात् वर्ण तथा अक्षर एक नही, भिन्न हैं। इसीलिये कात्यायन ने 'स्वरो वर्णोऽक्षर माना' इस पद्य मे वर्ण तथा अक्षर दोनो का प्रयोग कर वर्ण और अक्षर का भेद बतलाया है। जो वर्णसमाम्नाय अक्षरसमाम्नाय है, इस रूप से वर्ण और अक्षर म कही कही अभेदव्यवहार भी किया गया है वह भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि आठ प्रकार से वर्णों एव अक्षरो म भेद सिद्ध है। जैसे—

(१) वर्ण क्षरपुरुष है और अक्षर अक्षर पुरुष है, इस प्रकार दोनो मे पुरुषभेद है।

(२) वर्ण ६४ है और अक्षर लघु, गुरु भेद से दो प्रकार का है, यह सख्याभेद है।

(३) वर्ण एकबिन्द्वात्मक है और अक्षर नवबिन्द्वात्मक है, यह योनिभेद है।

(४) वर्ण निर्व्यापार है और पञ्चम बिन्दुस्थ अक्षर यदि निर्व्यापार है अथवा उसमे पृष्ठत व्यापार है, तो लघु होता है और पुरस्तो व्यापार होता है, तो गुरु होता है। जैसे— अ या प्र लघु है किन्तु आ या अत् गुरु है, यह व्यापारभेद है।

(५) वर्ण अन्न है और अक्षर अन्नाद है, यह वीर्यभेद है।

(६) वर्ण अक्षरप्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठित है और स्वत अप्रतिष्ठित हैं, किन्तु अक्षर स्वत प्रतिष्ठित है, यह प्रतिष्ठाभेद है।

(७) वर्ण अक्षर के अग हैं और अक्षर वर्णों का अगी है यह अगागिभेद है।

(८) 'ओम्' मे वर्ण तीन हैं—अ, उ, म्, किन्तु ओम् [1]अक्षर एक है, यह प्रतिपत्ति (ज्ञान) भेद है। इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भ से दो बातें सिद्ध होती हैं— (१) वर्णों से अक्षर भिन्न हैं। (२ तथा अर्थ और शब्द दोनो ही तीन प्रकार के हैं, इस समानता के कारण परब्रह्मविद्या व शब्दब्रह्मविद्या में अत्यन्त सादृश्य है।

अक्षरो की गुरुत्व तथा लघुत्व की उत्पत्ति के लिए वर्णों के अगाङ्गिभाव की व्याख्या की जा रही है। 'बृहत्या (वाच) पति बृहस्पति' इत्यादि निर्वचन से वाक् का बृहतीत्व सिद्ध होता है। यह बृहती वाक् ऐन्द्र (इन्द्र सम्बन्धी) छन्द है। ऐतरेयारण्यकश्रुति मे बृहतीसहस्र को इन्द्र का प्रिय धाम बतलाया है। इसलिये ऐन्द्री वाक् बृहती कहलाता है। बृहती यह नौ भक्ति (भाग) वाले छन्द की सज्ञा है। ऐन्द्री वाक् को बृहती बतलाते हुए आचार्यो का ऐन्द्री वाक् नवभक्तिक (नौ भाग वाली) है, यह तात्पर्य है। अत यह सिद्ध है कि ऐन्द्री वाक् का नौ बिन्दुएँ व्याप्तिस्थान हैं। नौ बिन्दु तक यह अक्षरस्फोट है। अर्थात् नौ बिन्दुओ तक अक्षरस्फोट की व्याप्ति है।

उच्चार्यमाण व्यजन जितने प्रदेश को व्याप्त करते हैं वह अर्धमात्राकाल है। उसी अर्धमात्राकाल का उपलक्षण (बोधक) एक बिन्दु है। यद्यपि स्वर को अक्षर कहते है और स्वर दो बिन्दुओ को विषय बनाता है न कि नौ बिन्दुओ को। क्योकि स्वर एकमात्रिक होता है और एक मात्रा दो अर्धमात्रिक बिन्दुओ से बनती है तथापि नव बिन्दु तक अक्षर की व्याप्ति होती है, यह नवबिन्दुक का तात्पर्य है न कि नौ बिन्दुओ मे स्वररूप अक्षर का स्वरूप बनता है। अर्थात् नवबिन्द्वात्मक प्रदेश तक के व्यजनो को स्वर रूप अक्षर आत्मसात् करने में समर्थ है। व्यजनसहित स्वर भी अक्षर कहलाता है और सव्यजन स्वर का नवबिन्दुक स्फोट आयतन होता है। यही स्फोट अव्यय है।

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म भी अक्षर उक्थ, अर्क, अशिति भेद से तीन भागो से युक्त है। उन तीन भागो म बिन्दुद्वयात्मक स्वर

---

१ 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म' (गीता ना० ८)

'वाग्' को एक अक्षर तथा अक्षर को त्र्यक्षर (तीन अक्षरो का समुदाय) बतला रही है। क्योंकि वाग्' मे व्, आ, ग् इन तीन वर्णों के होने पर भी आद्यन्त व्यजनो से विशिष्ट अकारस्वर एक अक्षर ही है तथा 'अक्षर' शब्द मे 'अ' यह एक अक्षर व्यजन से असपृक्त होने के कारण 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर है। तथा 'क्ष' व 'र' ये दो व्यजनसपृक्त स्वर होने से 'सहाद्यैर्व्यजनैरुत्तरैश्चावमितै ' इस वचन के अनुसार अक्षर है, मिलकर तीन अक्षर है, अत 'अक्षर' शब्द को तीन अक्षरो का समुदाय बतलाया गया है। कितने व्यजनो से युक्त स्वर एक अक्षर कहला सकता है, इस जिज्ञासा मे यही उत्तर है कि आदि मे (पूव मे) चार व्यजनो से तथा उत्तर मे तीन व्यजनो से विशिष्ट स्वर एक अक्षर कहला सकता है। अर्थात् एक स्वर आदि मे चार व्यजनो को तथा उत्तर मे तीन व्यजनो को व्याप्त कर सकना है। यही उसका क्रान्तिमण्डलरूप महिमास्थान है, इससे अधिक नही। इस प्रकार एक स्वर-रूप आत्मा अपने अर्करूप प्राणो से आदि मे चार तथा अन्त मे तीन व्यजनो को अशिति (अन्न) रूप मे आदान कर आत्मसात् करके अपने अग बना सकता है। अत इतने व्यजन उसके अग है तथा बिन्दुद्वयात्मक स्वर उन व्यजनरूप अगो का आत्मा है। इसलिये जैसे पृथिवी सूर्य का अग है उसी प्रकार पार्थिव वागूरूप व्यजन ऐन्द्रवागरूप स्वर के अग है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जहाँ ६ बिन्द्वात्मक प्रदेश मे दूसरे स्वर का अभाव है, वहाँ तो 'सहाद्यै ' इत्यादि कात्यायन-वचन के अनुसार पूर्व मे चार तथा उत्तर मे तीन व्यजनो से युक्त स्वर अक्षर है, यह ज्ञान निर्विवाद तथा असन्दिग्धरूप से हो जाता है किन्तु जहाँ नवबिन्द्वात्मक परिधि मे दूसरा स्वर भी आ गया है वहाँ उसके पास के व्यजनो को कौनसे स्वर का अग माना जाय अर्थात् स्वरद्वयमध्यवर्ती व्यजनो को पूर्वस्वर का अग माना जाय या परस्वर का। जैसे—'अपक्वस्यानम्' इस पञ्चाक्षर पद मे शुद्ध अकार, पकार-युक्त अकार, ककार व वकार से युक्त अकार, सकार, तकार तथा यकार से युक्त आकार एव पूर्व मे नकार तथा उत्तर मे मकार से युक्त अकार इस प्रकार पाँच अक्षर हैं। वहाँ पर पकार, ककार, सकार, तकार एव नकार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अग क्यो नही हैं, उत्तरवर्ती स्वर के ही क्यो ?

इसका समाधान यही है कि स्वर मे पृष्ठत (आदि मे) तथा पुरत (उत्तर मे) बल में न्यूनाधिकतारतम्य होता है। दो स्वरो के होने पर पूर्ववर्ती

शब्दब्रह्म या उक्थ या आत्मा है। सात बिन्दुएँ इसका अर्कस्थान हैं। उक्थरूप आत्मा से उत्पन्न प्राण अर्क कहलाते है। वे अर्क क्रान्तिमण्डल रूप अपनी महिमा म अशिति (अन्न) को प्राप्त करने के लिए आक्रमण (गमन) करते हुए क्षररूप व्यजन को आत्मसात् कर लेते हैं, उसे अपने स्वरूप म समाविष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार यह उक्थ रूप आत्मा अपने कान्तिमण्डलरूप महिमा स्थान मे अर्क द्वारा गृहीत व्यजनों को अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेता है। अत केवल स्वर के अक्षर होने पर भी ६ बिन्दु तक वर्तमान क्षररूप व्यजन स्वररूप अक्षर की सत्ता से ही सत्तावान् होते हैं। अत इन व्यजनो से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'अ' यह एक अक्षर है। इसी प्रकार य, स्य, स्त्य, स्त्र्य भी एक एक अक्षर ही हैं। वे अक्षर उपसर्ग (पूर्व मे विद्यमान) व्यजन के (एक-दो तीन-चार-भेद मे) न्यूनाधिक होने पर भी आकार म समान स्थान को ही रोकते हैं। इसी प्रकार अ, अर्, अर्क्, अर्क्ट् ये चारो अक्षर भी स्वर से उत्तरवर्ती व्यजनो के न्यूनाधिक होने पर भी छद (आकार) में समान स्थान को ही रोकते है। अत ये एक अक्षर कहलाते हैं। इसीलिए जहाँ व्यजन नही है, वहाँ शुद्ध स्वर ही अक्षर है। और स्वर के पूर्व या पश्चात् व्यजनो के होने पर व्यजनविशिष्ट स्वर ही अक्षर कहलाता है। इसीलिये कात्यायन ने कहा है। 'स्वरोऽक्षर सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितै'। इति।

स्वर दो प्रकार का होता है—अपृक्त तथा व्यजनसपृक्त। जैसे—'अहम्' मे प्रथम अकार व्यजन से असपृक्त है। उसको हम वर्ण व अक्षर दोनो कह सकते है। क्योकि अकार वर्ण भी है और 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त से अकार स्वरवर्ण होने से अक्षर भी है। हकारोत्तरवर्ती अकार पूर्व मे हकार व्यजन से तथा पश्चात् (उत्तर म) मकार व्यजन से सम्पृक्त है। अत यहाँ व्यजनविशिष्ट स्वर है, न कि केवल, स्वर। यहाँ व्यजनविशिष्ट स्वर का व्यजनोपहित दृष्टि से विचार करें तो अकार भी वर्ण ही है अक्षर नही, क्योकि उपाधि का उपहित मे अन्वय नही होता। अत उस दृष्टि से विचार करने पर व्यजनो का अकार म अन्वय न होने से अकार वर्ण ही है। और यदि विशिष्ट मान कर विशिष्ट दृष्टि से विचार किया जाय तो विशेषणो का विशिष्ट मे अन्वय होने से अकार, पूर्व मे हकार तथा उत्तर मे मकार व्यजन से युक्त होने के कारण 'सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितै' इस कात्यायनवचन के अनुसार अक्षर है। इसीलिये 'वागित्येकमक्षरम्', अक्षरमिति त्र्यक्षरम्' यह ऐतरेयारण्यक श्रुति

'वाग्' को एक अक्षर तथा अक्षर को त्र्यक्षर (तीन अक्षरों का समुदाय) बतला रही है। क्योंकि वाग्' मे व्, आ, ग् इन तीन वर्णो के होने पर भी आद्यन्त व्यजनो से विशिष्ट अकारस्वर एक अक्षर ही है तथा 'अक्षर' शब्द मे 'अ' यह एक अक्षर व्यजन से असपृक्त होने के कारण 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर है। तथा 'क्ष' व 'र' ये दो व्यजनसपृक्त स्वर होने से 'सहाद्यैर्व्यंजनैरुत्तरैश्चावसितै' इस वचन के अनुसार अक्षर है, मिलकर तीन अक्षर हैं, अत 'अक्षर' शब्द को तीन अक्षरो का समुदाय बतलाया गया है। कितने व्यजनो से युक्त स्वर एक अक्षर कहला सकता है, इस जिज्ञासा मे यही उत्तर है कि आदि मे (पूर्व मे) चार व्यजनो से तथा उत्तर मे तीन व्यजनो से विशिष्ट स्वर एक अक्षर कहला सकता है। अर्थात् एक स्वर आदि मे चार व्यजनो को तथा उत्तर मे तीन व्यजनो को व्याप्त कर सकता है। यही उसका क्रान्तिमण्डलरूप महिमास्थान है, इससे अधिक नही। इस प्रकार एक स्वर-रूप आत्मा अपने अर्करूप प्राणो से आदि मे चार तथा अन्त मे तीन व्यजनो को अशिति (अन्न) रूप मे आधान कर आत्मसात् करके अपने अग बना सकता है। अत इतने व्यजन उसके अग है तथा बिन्दुद्वयात्मक स्वर उन व्यजनरूप अगो का आत्मा है। इसलिये जैसे पृथिवी सूर्य का अग है उसी प्रकार पार्थिव वाग्रूप व्यजन ऐन्द्रवागरूप स्वर के अग है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जहाँ ६ बिन्द्वात्मक प्रदेश मे दूसरे स्वर का अभाव है, वहाँ तो 'सहाद्यै' इत्यादि कात्यायन-वचन के अनुसार पूव मे चार तथा उत्तर मे तीन व्यजनो से युक्त स्वर अक्षर है, यह ज्ञान निर्विवाद तथा असन्दिग्धरूप से हो जाता है किन्तु जहाँ नवबिन्द्वात्मक परिधि मे दूसरा स्वर भी आ गया है वहाँ उसके पास के व्यजनो को कौनसे स्वर का अग माना जाय अर्थात् स्वरद्वयमध्यवर्ती व्यजनो को पूवस्वर का अग माना जाय या परस्वर का। जैसे—'अपक्वस्त्यानम्' इस पञ्चाक्षर पद मे शुद्ध अकार, पकार-युक्त अकार, ककार व वकार से युक्त अकार, सकार, तकार तथा यकार से युक्त आकार एव पूव मे नकार तथा उत्तर मे मकार से युक्त अकार इस प्रकार पाँच अक्षर हैं। वहाँ पर पकार, ककार, सकार, तकार एव नकार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अग क्यो नही हैं, उत्तरवर्ती स्वर के ही क्यो ?

इसका समाधान यही है कि स्वर मे पृष्ठत (आदि मे) तथा पुरत (उत्तर मे) बल मे न्यूनाधिकतारतम्य होता है। दो स्वरो के होने पर पूववर्ती

तस्माच्चोत्तर स्पर्शो। अवसित चेति'। अर्थात् सयोग का आदि व्यजन पूर्व स्वर का अङ्ग होता है। इसी प्रकार यम तथा क्रमज व्यजन भी पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं।

तर्क, गुल्म, हव्यम्, रक्मम्, पत्नी सत्यम्, इत्यादि उदाहरणो मे दो स्वरो के मध्यवर्ती व्यजनो मे प्रथम व्यजन पूर्व स्वर का तथा दूसरा व्यजन पर स्वर का अग है।

अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा श, ष, स, ह् से भिन्न सयुक्त तथा अवसित (पदान्त) व्यजनो का उच्चारण दो प्रकार से होता है—सहजतया तथा बलप्रयोगपूर्वक। जिस रूप से वर्णो का प्रारभ किया जाता है उसी रूप से समाप्ति भी करनी चाहिए, इस नियम से उच्चारण करने वाले पुरुषो का पद के मध्य मे विशेष बल का प्रयोग नही होता, इस प्रकार का उच्चारण अञ्जसा उच्चारण कहलाता है। जैसे 'सत्य' शब्द में स्पर्शवर्ण तकार का, तर्क, गुल्म आदि उदाहरणो में अन्तस्थ वर्ण रेफ व लकार की तरह, मृदुग्रह है। ऐसे स्थलो में तकार-वर्ण पूर्व स्वर का अग होता है किन्तु विक्रम्य उच्चारण करने मे तकार स्पर्श मे बलविशेष का उदय होने से पूर्व स्वर की विक्रान्ति होती है। इस विक्रम के कारण 'सत्य' शब्द मे स्पर्श वर्ण के उच्चारण के बाद विच्छेद होकर पुन उत्तर वर्ण के उच्चारण के लिए प्रयत्नलाभ होना है। ऐसी स्थिति में 'सयोगविभागशब्देभ्य शब्द' इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार सयोगज स्पर्श के बाद विभागज स्पर्श की और उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तकार वर्ण का दो बार उच्चारण होता है। इन दोनो वर्णो मे सयोगादि वर्ण तकार के द्वित्व से उत्पन्न क्रमज पूर्व तकार वर्ण पूर्व स्वर का अग होता है तथा द्वितीय तकार वर्ण जो कि विभागज शब्द है, पर स्वर का अङ्ग होता है। 'रुक्क्म' शब्द मे क तथा तत्समान यमवर्ण द्वितीय ककार पूर्व स्वर के अग हैं तथा मकार परस्वर का अग है।

रेफ और हकार के सयोगादि वर्ण होने पर जहाँ उनसे परे विद्यमान स्पर्श वर्ण को द्वित्व होता है, वहाँ पारश्वर्व्यम्' आदि शब्दो मे रेफ तथा क्रमज पूर्व शकार पूव स्वर के अग हैं एव श, व, य—ये परस्वर के अग होते हैं। 'वार्प्प्यायि' शब्द मे रेफ से परे प्रथम पकार पूर्व स्वर का तथा प और य पर

तथा परवर्ती स्वरों में बाध्यबाधकभाव होने से एक स्वर में बल का नाश होने से उस स्वर (बाधित स्वर) का व्यञ्जनविशेष में सङ्क्रमण रुक जाता है। जैसे—'पुत्र' शब्द में तकार व्यञ्जन परस्वर का अङ्ग है अत: पूर्व स्वर का अङ्ग नहीं होता। क्योंकि यहां पर अधिक बल वाले, परस्वर के बल से अल्प बल वाले पूर्व स्वर के बल का बाध हो गया है। बल का यह तारतम्य दो स्वरों का सन्निकर्ष होने पर ही होता है। क्योंकि नवबिन्द्वात्मक आयतन में स्वर की स्थिति पञ्चम व षष्ठ बिन्दु पर आधारित है। उसमें पूर्व में पञ्चम-बिन्दु-सहित पांच पाद बल हैं तथा उत्तर में षष्ठ बिन्दु-सहित चार पाद बल हैं। नवबिन्द्वात्मक नौ पादबलों से युक्त यह स्वर पूर्व तथा परबिन्दुस्थ व्यञ्जनों पर व्याप्त होता है। पञ्चम-षष्ठ बिन्द्वात्मक आयतन पर आश्रित स्वर पूर्व में चार बिन्दुओं को तथा उत्तर में तीन बिन्दुओं को व्याप्त करता है या उन बिन्दुओं पर क्रमण करता है। किन्तु पञ्चमषष्ठबिन्दुरूपी उभय का यह आक्रमण-बल पूर्व में आदि की चार बिन्दुओं पर तथा पश्चात सप्तमादि तीन बिन्दुओं पर पादश एक-एक (पाद) कम होता जाता है।

जैसे—हरि शब्द में रेफ में पूर्व तथा पर दोनों स्वरों की अङ्गता प्राप्त है, किन्तु पूर्व स्वर का उत्तरस्थ बल तीन पाद है और उत्तर स्वर का पूर्वस्थ बल चार पाद है। अत: उत्तर स्वर का बल अधिक होने से रेफ पूर्व स्वर का अङ्ग न होकर उत्तरस्वर का अङ्ग होता है।

'कार्त्स्न्यम्' शब्द मे तकार मे पूर्व स्वर का बल दो पाद है तथा उत्तर पाद का बल एक पाद है। अत न्यून बल वाले उत्तर स्वर के बल का अधिक बल वाले पूर्व स्वर के बल से बाध हो जाने के कारण तकार पूर्व स्वर का अङ्ग माना जाता है न कि उत्तर स्वर का। यही पर मकार मे पूर्व स्वर का बल एक पाद है और उत्तर स्वर का बल दो पाद है। अत मकार पूर्वस्वर का अग न होकर परस्वर का अग होता है। 'ऊर्व् स्त्र्यङ्गे' उदाहरण मे वकार मे पूर्वस्वर का बल दो पाद है और परस्वर का सर्वथा नही, अत वह पूर्व स्वर का अग माना जाता है।

इस प्रकार स्वरो मे परस्पर बलवैषम्य होने पर जिस व्यजन पर जिस स्वर का बल अधिक होता है, वह व्यजन उसी स्वर का अग होता है। यही निष्कर्ष भगवान् कात्यायन का है—'सयोगादि पूर्वस्य। यमश्च। क्रमज च।

तस्माच्चोत्तर स्पर्शे। अवसित चेति'। अर्थात् सयोग का आदि व्यजन पूर्व स्वर का अङ्ग होता है। इसी प्रकार यम तथा क्रमज व्यजन भी पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं।

तर्क, गुल्म, हव्यम्, रक्मम्, पत्नी मत्यम्, इत्यादि उदाहरणो मे दो स्वरो के मध्यवर्ती व्यजनो मे प्रथम व्यजन पूर्व स्वर का तथा दूसरा व्यजन पर स्वर का अग है।

अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा श, ष, स, ह् से भिन्न सयुक्त तथा अवसित (पदान्त) व्यजनो का उच्चारण दो प्रकार से होता है—सहजतया तथा बलप्रयोगपूर्वक। जिस रूप से वर्णो का प्रारभ किया जाता है उसी रूप से समाप्ति भी करनी चाहिए, इस नियम से उच्चारण करने वाले पुरुषो का पद के मध्य मे विशेष बल का प्रयोग नही होता, इस प्रकार का उच्चारण अन्जसा उच्चारण कहलाता है। जैसे 'सत्य' शब्द मे स्पर्शवर्ण तकार का, तर्क, गुल्म आदि उदाहरणो में अन्तस्थ वर्ण रेफ व लकार की तरह, मृदुग्रह है। ऐसे स्थलो में तकार-वर्ण पूर्व स्वर का अग होता है किन्तु विक्रम्य उच्चारण करने मे तकार स्पर्श मे बलविशेष का उदय होने से पूर्व स्वर की विक्रान्ति होती है। इस विक्रम के कारण 'सत्य' शब्द मे स्पर्श वर्ण के उच्चारण के बाद विच्छेद होकर पुन उत्तर वर्ण के उच्चारण के लिए प्रयत्नलाभ होना है। ऐसी स्थिति में '*सयोगविभागशब्देभ्य शब्द*' इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार सयोगज स्पर्श के बाद विभागज स्पर्श की और उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तकार वर्ण का दो बार उच्चारण होता है। इन दोनो वर्णों मे सयोगादि वर्ण तकार के द्वित्व से उत्पन्न क्रमज पूर्व तकार वर्ण पूर्व स्वर का अग होता है तथा द्वितीय तकार वर्ण जो कि विभागज शब्द है, पर स्वर का अङ्ग होता है। 'रुक्म' शब्द मे क तथा तत्समान यमवर्ण द्वितीय ककार पूर्व स्वर के अग हैं तथा मकार परस्वर का अग है।

रेफ और हकार के सयोगादि वर्ण होने पर जहाँ उनसे परे विद्यमान स्पर्श वर्ण को द्वित्व होता है, वहाँ पाद्दव्यम्' आदि शब्दो मे रेफ तथा क्रमज पूर्व शकार पूर्व स्वर के अग हैं एव श, व, य—ये परस्वर के अग होते हैं। 'वार्ष्यायि' शब्द में रेफ से परे प्रथम षकार पूर्व स्वर का तथा ष और य पर

स्वर के अग हैं। 'वाह्_ह्वो' मे हवार मे परे विद्यमान पूर्व 'व' पूर्व स्वर का तथा द्वितीय वकार पर स्वर का अग है। क्रमज वर्ण मे उत्तर विद्यमान व्यजन से परे यदि स्पश वण हो, तो पूव स्वर का अग होता है। 'पार्ण्व्यो' इस उदाहरण मे र, प, प पूव स्वर के अग हैं। यहाँ क्रमज के उत्तर विद्यमान द्वितीय' प' भी पूव स्वर का अग है क्योंकि उससे परे स्पश वर्ण 'ण' विद्यमान है। इसी प्रकार 'वप्प्मन्' मे र, प, प पूव स्वर के तथा मकार पर स्वर का अग है।

'ङ्णो कुक् टुक् शरि' 'नश्च' 'शि तुक्, इन पाणिनीय सूत्रो के द्वारा विधीयमान क, ट, घ और त पूव स्पश डकार, णकार तथा नकार के द्विरक्त रूप ही हैं। क्योंकि ह्रस्व स्वर से परे विद्यमान ङ, ण, न को जैसे स्वर परे होने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' इत्यादि म द्विरुक्ति होती है, उसी प्रकार स्वर-भक्ति-युक्त शकारादि उप्म वर्णों के परे होने पर भी उच्चारण-सम्प्रदाय-क्रम के अनुरोध से किसी भी स्वर से परे विद्यमान ङकारादि को द्वित्व हो जाता है। किन्तु उप्म वण नासिक्य के विरोधी हैं अत द्विरुक्त होने पर उप्म वर्णों के सनिकृष्ट ङकारादि से नासिक्य का अपहरण होकर उनमे केवल स्पर्शमात्रता शेप रह जाने से वे ङकारादि ककारादि मे परिवर्तित हो जाते हैं। अत प्राङ्क् षष्ठ, सुगण्_ट् षष्ठ, सन्त्स सञ्च्छम्भु इत्यादि प्रयोगो की निष्पत्ति होती है। इन सब उदाहरणो मे द्वित्वसिद्ध ककारादि वण पूर्व स्वर के अङ्ग हैं।

'कात्स्न्यम्' शब्द मे दो अकारो के वीच वतमान अ, र, त, स, न, य ये ६ वर्ण हैं। इनमे अ, र, त ये तीन पूव अक्षर के तथा स, न, य ये पर अक्षर के अग हैं। यहाँ पर तकार पर पृष्ठतोबल द्वारा पर अक्षर का तथा सकार पर पुरतोबल द्वारा पूव अक्षर का आक्रमण होने पर भी, विरोध होने पर मूल बल से सिद्धि मानी जाती है, इस न्याय से मूल कृत्स्न_शब्द मे त पूर्व स्वर का अग होता है और सकार परस्वर का। अत कृत्स्न शब्द से निष्पन्न कात्स्न्यं शब्द म भी तकार पूव स्वर का तथा सकार परस्वर का ही अग माना जाता है। 'तक्म्यम्' शब्द मे क, म, य, पर पूर्व स्वर का तथा य, म, क, पर परस्वर का वल प्रयोग होने के कारण विरोध होने से और विरोध म सामीप्याधिक्य के कारण ककार पूर्व स्वर का तथा यकार पर स्वर का अग होता है। मकार पर दोनो का समान अधिकार प्राप्त होने पर भी पृष्ठतोबल पुरतोबल का अतिक्रमण कर

लेता है, इस न्याय के अनुसार मकार परस्वर का अग होता है, क्योकि मकार मे पुरतोबल के कारण पूर्व स्वर की तथा पृष्ठतो बल के कारण पर स्वर की अगता प्राप्त है। वैदिको के सिद्धान्तो मे तो पूव स्वर के बल से अवष्टब्ध ककार पर भी परस्वर के बल की प्रसक्ति होने से दो विरुद्ध बलो के द्वारा आकृष्यमाण दो 'क' वर्णों की निष्पत्ति होकर 'तक्कम्यम्' ऐसा बनता है। यहाँ उत्तर ककार पर 'म' के प्रयत्न का आक्रमण होने से वह नासिक्य माना जाता है, अत पर ककार यम कहलाता है। 'विश्वप्स्न्या' इस उदाहरण मे पकार पूर्वाङ्ग है, सकार पराङ्ग है। 'विष्वक् पाश' मे ककार पर पूर्व स्वर तथा पर स्वर के बल का समान आक्रमण होने पर भी पदान्त यति से विच्छेद के कारण ककार पूव स्वर का ही अग है न कि पर स्वर का। इस प्रकार अनेक स्वरो के होने पर उनमे उपर्युक्त रीति से बाध्यबाधकभाव होता है।

यह पहिले बतला दिया है कि व्यजनो से सर्वथा असस्पृष्ट स्वर तथा व्यजनो के होने पर व्यजनसपृक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'स्त्र्यर्क्ट्' शब्द स, त, र, य, अ, र, क, ट इन आठ वर्णो मे युक्त, अकार को छोड कर शेष सात व्यजनो से युक्त तथा अकार स्वर म स्वर की दो बिन्दु (मात्रा) एव सात व्यजनो की सात बिन्दु (मात्रा) इस प्रकार मिलकर ९ बिन्दुओ से युक्त एक अक्षर है। यहाँ अकार वर्णमात्र है अक्षर नही। क्योकि व्यजनो के होने पर व्यजनसहित ही स्वर अक्षर कहलाता है असपृक्त नही। इस प्रकार सात व्यजन तथा अकार स्वर ये आठो वर्ण अकाररूप एक अक्षर के अग है। क्योकि इन सबका उच्चारण अकार अक्षर के अधीन ही है। यह अकार अक्षर सात व्यजनो से अधिक व्यजनो को ग्रहण करने मे समर्थ नही है। वह पृष्ठत ४ तथा पुरत ३ व्यजनो को ग्रहण कर सकता है, अधिक नही। पृष्ठत पाचवाँ व्यजन तथा पुरत चौथे व्यजन का यदि उच्चारण किया जाय तो अगत्या कोई दूसरा स्वर वहाँ आयेगा। क्योकि पूर्व स्वर की उन व्यजनो के उच्चारण मे सामर्थ्य नही है। जैसे 'न स्त्र्यर्क्टप' इस उदाहरण म नकार व टकार मे हठात् दूसरा स्वर आ जाता है।

अक्षर मे देवानुध्यान—

निरवयव मन मे नौ प्राण-खण्डो का समावेश है। वे नौ खण्ड प्राणमय कोश है। उन प्राणात्मक नौ बिन्दुओ मे पञ्चम बिन्दु केन्द्ररूप होने से आत्मा

कहलाती है। अ र ८ बिन्दुएँ उसके अंग हैं। पञ्चम बिन्दु पर स्थित स्वर अक्षर कहलाता है। वही स्वर ऐन्द्रवायव ग्रह है और वाक् का आत्मा है। यह पञ्चम बिन्दुस्थ स्वररूप प्राण वाङ्मय होने से इन्द्र कहलाता है। यही इन्द्र-प्राण सरस्वती का अधिष्ठाता सरस्वान् है। जैसा कि बृहद्देवता मे कहा है—

सरासि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत् त्रिषु।
सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचमाहु सरस्वतीम्॥

यद्यपि यह वाक् पार्थिव होने से आग्नेयी मानी जाती है। जैसा कि 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इस शतपथ-श्रुति में बतलाया गया है, तथापि यह पार्थिव वाक् इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उस इन्द्रप्राण के साथ वाक् का एकीभाव हो जाता है अत इसे ऐन्द्री कहा जाता है यह पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। इनमे दिव्येन्द्र प्राण ही प्रज्ञाप्राण कहलाता है। यही दिव्येन्द्ररूपी प्रज्ञाप्राण वितायमान (प्रस्रियमाण) ध्वनिरूप वाक् मे स्वर-व्यजन-विभाग करता है और आन्त-रीक्ष्य इन्द्रप्राण वायु से युक्त रहता है। इन्द्रतुरीय (इन्द्र जिसमे चौथा भाग है) वायु ऐन्द्रवायव ग्रह बनता हुआ आग्नेयी ध्वनिरूप वाक् को अधिष्ठित करता है। क्योकि अग्नि गायत्र है। इस वाक् का गायत्र अग्नि देवता है। अत इस वाक् को गायत्री कहते हैं। गायत्री अष्टावयव है। इसलिए एक स्वर से अनुगत सातो व्यजन स्वरसहित एक अक्षररूप वाक् है। इस वाक् का *उक्थांश (आत्मांश) स्वर नौ बिन्दुओ मे से पञ्चम व षष्ठ बिन्दु पर अधिष्ठित* होता है। किन्तु प्राणरूप इन्द्रांश बृहतीरूप नौ बिन्दुओ को व्याप्त करता है। इसीलिये श्रुति मे कहा है—'यावद् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्' 'यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्म' (ऐ० आ०) अर्थात जहा तक ब्रह्म है वहाँ तक वाक् व्याप्त है, इन्द्र ही वाक्तत्त्वो का ब्रह्म कहलाता है क्योकि इन्द्र आत्मा व ब्रह्म समानार्थक शब्द है। जिस प्रकार शारीर आत्मा सारे शरीर को व्याप्त कर रहता है उसी प्रकार वागात्मा इन्द्र नौ बिन्दुओ को व्याप्त कर रहता है। यह नवबिन्द्वात्मक वाक्तत्त्व ही वाङमय इन्द्रप्राण का शरीर है। इन्द्र-प्राण के शरीरभूत वाग् में जितने व्यजन प्रविष्ट है उतनी वाक् — इन्द्र से परिमित होती है। इस प्रकार आठ वर्णों तथा नव बिन्दुओ
एकाक्षर वाक् निष्पन्न होती है। इसी रहस्य का उद्घाटन
निम्न ऋङ्मत्र मे किया है—

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्।
इन्द्रात् परितन्व ममे। ऋ० सं० ८।७६।१२

इसी मन्त्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक मे निम्न प्रकार से की है — वृहतीरूप इन्द्रप्राण ३६ अक्षरात्मक है। इस इन्द्रप्राण ने आठ पदोवाली तथा नव बिन्दुवाली वाक् को परिमित किया। इस वाक् मे चार अक्षरोवाले आठ पाद होते है, इस प्रकार वाक् मे ३२ अक्षर हो जाते है, अत ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् ही अष्टापदी वाक् है। एक चतुरक्षरात्मक पद और मिलाने पर वही अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् नवपदी वृहती बन जाती है। इसीलिये इस अष्टापदी वाक् को नवस्रक्ति कहा गया है। स्रक्ति शब्द का अर्थ कोण है। इस प्रकार यह अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् ऋतरूप वृहती प्राण का स्पर्श करती है, उससे अभिन्न हो जाती है। ३६ अक्षरात्मक वृहती मे ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् वाक् का अन्तर्भाव हो जाता है। यही वाक् (अनुष्टुप्) का प्राणरूप वृहती के साथ एकीभाव है। 'ऋतस्पृशम्' शब्द का 'अनुष्टुप् वाक वृहती से स्पृष्ट है' ऐसा अर्थ सायण ने किया है। और ऐतरेय श्रुति मे 'सत्यवाक् ऋत वाक् से स्पृष्ट है' यह अर्थ किया है श्रोत्र द्वारा ग्राह्य शब्द ही सहृदय होने से 'सहृदय सत्यम्' इस परिभाषा के अनुसार सत्यवाक् है। वह हृदयरहित ऋतवाक् से नित्य स्पृष्ट होती है। हृदय का अर्थ यहाँ केन्द्र है।

यहाँ यह रहस्य है कि ऋतु व सत्य नामक दो नेत्र होते है। नेत्र का अर्थ सूत्र है। अत ऋत व सत्य नामक दो सूत्र होते हैं। हृदयतोग्राही अर्थात् केन्द्र से ग्रहण करने वाला सूत्र सत्य कहलाता है तथा सर्वतोग्राही नेत्र (सूत्र) ऋत कहलाता है। अत अशरीर तथा अहृदय (शरीररहित तथा हृदयरहित) सभी पदार्थ ऋत नेत्र द्वारा गृहीत होने से ऋत कहलाते है और सहृदय व सशरीर सभी पदार्थ 'सत्य-नेत्र द्वारा गृहीत होने से सत्य कहलाते है। अप्, वायु तथा सोम अशरीर होने से ऋत है। अग्नि, यम व आदित्य सशरीर होने से सत्य है। अप् शब्द से पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या नामक वाक् का ग्रहण है। जिसे ऊपर अष्टापदी गायत्री वाक् कहा गया है। यह वाक् अपनी योनि (कारण)रूप ऋत वाक् से सम्बद्ध होती हुई ही स्वरूप धारण करती है। ऋत वाक् ही उसका प्रभव तथा प्रतिष्ठा है। वह अष्टापदी गायत्री वाक् अन्त मे ऋतरूप पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या वाक् मे ही लीन

कहलाती है। पञ्चम बिन्दु उसके मध्य है। पञ्चम बिन्दु पर स्थित स्वर अक्षर कहलाता है। यही स्वर ऐन्द्रवायव ग्रह है और वाक् का आत्मा है। यह पञ्चम बिन्दुस्थ स्वररूप प्राण वाङ्मय होने से इन्द्र कहलाता है। यही इन्द्र-प्राण सरस्वती का अधिष्ठाता सरस्वान् है। जैसा कि बृहद्देवता में कहा है—

सरांसि पूर्वास्यस्य सन्ति लोकेषु यत् विभु।
सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचमाहु सरस्वतीम् ॥

यद्यपि यह वाक् पार्थिव होने से आग्नेयी मानी जाती है। जैसा कि 'तस्य वा एतस्याग्नेयमेवोपनिषत्' इस शतपथ-श्रुति में बतलाया गया है, तथापि यह पार्थिव वाक् इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उस इन्द्रप्राण के साथ वाक् का एकीभाव हो जाता है अत इसे ऐन्द्री कहा जाता है यह पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। इसमें दिव्येन्द्र प्राण ही प्रज्ञाप्राण कहलाता है। यही दिव्येन्द्ररूपी प्रज्ञाप्राण विनायमान (प्रसियमाण) ध्वनिरूप वाक् मे स्वर-व्यजन-विभाग करता है और आन्त-रीक्ष्य इन्द्रप्राण वायु से युक्त रहता है। इन्द्रतुरीय (इन्द्र जिसमे चौथा भाग है) वायु ऐन्द्रवायव ग्रह बनता हुआ आग्नेयी ध्वनिरूप वाक् को अधिष्ठित करता है। क्योंकि अग्नि गायत्र है। इस वाक् का गायत्र अग्नि देवता है। अत इस वाक् को गायत्री कहते हैं। गायत्री अष्टावयव है। इसलिए एक स्वर मे अनुगत सातो व्यजन स्वरसहित एक अक्षररूप वाक् है। इस वाक् का उक्थाश (आत्माश) स्वर नौ बिन्दुओ मे से पञ्चम व षष्ठ बिन्दु पर अधिष्ठित होता है। किन्तु प्राणरूप इन्द्राश बृहतीरूप नौ बिन्दुओ को व्याप्त करता है। इसीलिये श्रुति मे कहा है—'यावद् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्' 'यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्म' (ऐ० आ०) अर्थात जहाँ तक ब्रह्म है वहाँ तक वाक् व्याप्त है, इन्द्र ही वाक्तत्त्वों का ब्रह्म कहलाता है क्योंकि इन्द्र आत्मा व ब्रह्म समानार्थक शब्द हैं। जिस प्रकार शरीर आत्मा सारे शरीर को व्याप्त कर रहता है उसी प्रकार वागात्मा इन्द्र नौ बिन्दुओ को व्याप्त कर रहता है। यह नवबिन्द्वात्मक वाक्तत्त्व ही वाङ्मय इन्द्रप्राण का शरीर है। इन्द्र-प्राण के शरीरभूत वाग् में जितने व्यजन प्रविष्ट है उतनी वाक् उस इन्द्र से परिमित होती है। इस प्रकार आठ वर्णों तथा नव बिन्दुओ से परिमित यह एकाक्षर वाक् निष्पन्न होती है। इसी रहस्य का उद्घाटन कुरुसुति काण्व ने निम्न ऋड्मत्र मे किया है —

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।
इन्द्रात् परितन्वं ममे । ऋ० सं० ८।७६।१२

इसी मन्त्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में निम्न प्रकार से की है — बृहतीरूप इन्द्रप्राण ३६ अक्षरात्मक है। इस इन्द्रप्राण ने आठ पदोवाली तथा नव बिन्दुवाली वाक् को परिमित किया। इस वाक् में चार अक्षरोवाले आठ पाद होते हैं, इस प्रकार वाक् मे ३२ अक्षर हो जाते हैं, अत ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् ही अष्टापदी वाक् है। एक चतुरक्षरात्मक पद और मिलाने पर वही अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् नवपदी बृहती बन जाती है। इसीलिये इस अष्टापदी वाक् को नवस्रक्ति कहा गया है। स्रक्ति-शब्द का अर्थ कोण है। इस प्रकार यह अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् ऋतरूप बृहती प्राण का स्पर्श करती है, उससे अभिन्न हो जाती है। ३६ अक्षरात्मक बृहती में ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् वाक् का अन्तर्भाव हो जाता है। यही वाक् (अनुष्टुप्) या प्राणरूप बृहती के साथ एकीभाव है। 'ऋतस्पृशम्' शब्द का 'अनुष्टुप् वाक बृहती से स्पृष्ट है' ऐसा अर्थ सायण ने किया है। और ऐतरेय श्रुति मे 'सत्यवाक् ऋत वाक् से स्पृष्ट है' यह अर्थ किया है श्रोत्र द्वारा ग्राह्य शब्द ही सहृदय होने से 'सहृदय सत्यम्' इस परिभाषा के अनुसार सत्यवाक् है। वह हृदयरहित ऋतवाक् से नित्य स्पृष्ट होती है। हृदय का अर्थ यहाँ केन्द्र है।

यहाँ यह रहस्य है कि ऋतु व सत्य नामक दो नेत्र होते है। नेत्र का अर्थ सूत्र है। अत ऋत व सत्य नामक दो सूत्र होते है। हृदयतोग्राही अर्थात् केन्द्र से ग्रहण करने वाला सूत्र सत्य कहलाता है तथा सवतोग्राही नेत्र (सूत्र) ऋत कहलाता है। अत अशरीर तथा अहृदय (शरीररहित तथा हृदयरहित) सभी पदार्थ ऋत नेत्र द्वारा गृहीत होने से ऋत कहलाते है और सहृदय व सशरीर सभी पदार्थ 'सत्य-नेत्र द्वारा गृहीत होने से सत्य कहलाते हैं। अप्, वायु तथा सोम अशरीर होने से ऋत हैं। अग्नि, यम व आदित्य सशरीर होने से सत्य है। अप् शब्द से पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या नामक वाक् का ग्रहण है। जिसे ऊपर अशपदी गायत्री वाक् कहा गया है। यह वाक् अपनी योनि (कारण)रूप ऋत वाक् से सम्बद्ध होती हुई ही स्वरूप धारण करती है। ऋत वाक् ही उसका प्रभव तथा प्रतिष्ठा है। वह अष्टापदी गायत्री वाक् अत मे ऋतरूप पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या वाक् मे ही लीन

होती है। इसीलिये इसे ऋतस्पृक् कहा गया है। यह ऋत वाक् अपूरूप है। जैसा कि शतपथ-श्रुति में कहा है—

सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च, तस्मादापः। अर्थात् प्रजापति ने वाक से अप्तत्त्व को उत्पन्न किया। इस प्रकार वाक् ही उसके द्वारा उत्पन्न की गई। उसने इन सबको व्याप्त किया। अतः 'आप' नाम से व्यपदिष्ट हुई (शत० ६।१।१।६)। यह वाक् ऋत है। इसमें जो प्राण है, वह सत्य है। जैसा कि आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। (शत० ११।६ प्र०।६ ब्रा०) इस श्रुति में कहा है। अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व अप्तत्त्व ही था। उसने सत्य (सूर्य) को उत्पन्न किया।

इस प्राणरूप इन्द्र का अप् रूप वाक् में दो प्रकार से विनियोग होता है—सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप से वह वाक में वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य इन विभागों को उत्पन्न करता है। यह प्रज्ञाप्राण मानुषी वाक् में ही रहता है न कि अव्याकृत वायु, तेज, जल व पृथिवी की वाक् में, और सत्यप्राण सभी प्रकार की वाक् में रहता है। सत्यप्राण से रहित अप्-रूप वाक् की स्थिति ही नहीं होती। इस ऋतरूपी (अपूरूपी) वाक् का समुद्र ही सरस्वान् कहलाता है। यही शरीररहित व्यापक वाक् है। यही व्यापक ऋतवाक् सत्य-प्राण के सम्बन्ध से सत्यप्राणावच्छिन्न सशरीर बनकर सरस्वती कहलाती है। अपरिच्छिन्न होने से सरस्वान् ऋत है। सत्यप्राण से परिच्छिन्न होने के कारण सरस्वती सत्य है। यह सत्यप्राण ही प्रज्ञाप्राण से विभाजित होकर अक्षर बनता है। यही अक्षर वाक् का आत्मा है, यही स्वर है, यही अङ्गी है। व्यंजन जो कि क्षर हैं, इस अक्षर के अङ्ग हैं। वे व्यंजन इस आत्मरूप अक्षर को एक बिन्दु से बढ़ाते हैं। अर्थात् व्यंजनों की अपेक्षा स्वर में एक बिन्दु अधिक होती है। व्यंजन एक बिन्दु पर स्थित रहता है किन्तु स्वररूप अक्षर बिन्दुद्वयात्मक प्रदेश को व्याप्त करता है। एक बिन्दु अर्धमात्रा-रूप होता है। अतः एक-बिन्द्वात्मक प्रदेश में व्याप्त व्यंजन अर्धमात्रिक तथा बिन्दुद्वयात्मक प्रदेश में व्याप्त स्वर एकमात्रिक कहलाता है। वीर्याधिक्य के कारण मध्यवर्ती एक आत्मा अन्य प्राणों का आत्मा या अङ्गी बनकर अन्य सब प्राणों को व्याप्त करता है।

इसका निरूपण शतपथ के षष्ठ[1] काण्ड में किया गया है। इसी प्रकार साध-मात्रिक व्यजनो का यह एकमात्रिक स्वर मात्राधिक्य के कारण आत्मा होता है। आत्मा होने से ही यह स्वर उन व्यजनों पर प्रभुत्व रखता है, सब व्यजनो को अपने अधीन रखता है। इस एकमात्रिक आत्मबिन्दु के पृष्ठभाग मे उपसर्ग-स्थानीय चार अर्धमात्रिक बिन्दु तथा आगे की तरफ उपधानस्थानीय तीन अर्ध-मात्रिक बिन्दु, इस प्रकार ७ बिन्दुओं को यह स्वर अपने अधिकार मे रखता है। सात अर्धमात्रिक व्यजन बिन्दु तथा एकमात्रिक स्वरबिन्दु मिलकर आठ होते हैं। इसी अभिप्राय से वाक् को 'ब्रह्म वै गायत्री अनुष्टुप्' इस ऐतरेयारण्यकश्रुति द्वारा अनुष्टुप् (अष्टसख्याक्षरा) कहा गया है।

'वाग् अनुष्टुप्' इस प्रकार से वाक् को अनुष्टुप् बतलाते हुए वैदिक महर्षि अक्षर को उपर्युक्त रीति से अष्टबिन्द्वात्मक मानते हैं। नौ व्यजनो के सनिवेश मे जितना स्थान लगता है उतना ही स्थान एक स्वर तथा सात व्यजनो के सनिवेश मे लगता है अत स्थानतुल्यता के कारण बृहतीप्राणावच्छिन्न अक्षर ही वागवच्छेद से अष्ट अगो वाला हो सकता है। इसलिये अक्षरात्मक वाक् को अनुष्टुप् भी कह देते है। अथवा चतुरक्षरच्छद मे प्रत्येक अक्षर आठ अगो वाला है, इस सिद्धात से चार अक्षरो वाला छन्द ३२ अवयवो (अक्षरो) वाला बन जाता है। सभी छन्द चतुरक्षरात्मक होते है। २४ अक्षरो का गायत्री छन्द, २८ अक्षरो का उष्णिक् इस प्रकार २० अक्षरो वाली द्विपदा विराट् के ऊपर चार-चार अक्षरो की वृद्धि से क्रमश गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पक्ति, त्रिष्टुप्, जगती छन्द बनते हैं। अर्थात् प्रत्येक छन्द चतुरक्षरात्मक है, और चारो अक्षरो मे प्रत्येक अक्षर अष्टावयव है। इस तरह प्रत्येक छन्द ३२ अक्षरात्मक होने मे सभी वाक अनुष्टुप् बन जाती है।

प्रत्येक अक्षर में ९ बिन्दुओ मे केन्द्रस्थ पञ्चम व षष्ठ बिन्दु स्वर के स्थान हैं, अत वे ही आत्मा है। अन्य सात बिन्दुएँ आत्मा का क्रान्तिस्थान होने से महिमा कहलाती है। पञ्चम व षष्ठ बिन्दु मे स्थित स्वरस्वरूप के बोधक प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र से सम्परिष्वक्त अक्षरस्वरूपनिरूपक प्रज्ञा प्राणरूप अन्य आन्तरीक्ष्य इन्द्र सात व्यजन वर्णों तथा एक स्वर वर्ण को व्याप्त करता है।

---

१ 'सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा, त्रय पक्षपुच्छानि, अथ यदेकेन पुरुषेणात्मान वर्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति। शत० ६।१।१।६।

इसीलिये बृहतीछन्दोरूप इस छन्द में अनुष्टुप्कारिता भी बन जाती है। इसीलिये मन्त्र में कहा है—

> बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
> अनुष्टुभमनुचर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥

इस मन्त्र के अधिदैवत, अधिशब्द तथा अधिभूत भेद में तीन अर्थ हैं। यहाँ अधिशब्द-पक्षानुसारी इस मन्त्र की व्याख्या उपस्थित की जाती है।

बीभत्सूनां = निराश्रय रूप से स्थित रहने में असमर्थ अतएव पराश्रयत्व की अपेक्षा रखने वाले क्षर व्यंजनों के आश्रयप्रदान द्वारा सहयोगी अर्थ को हंस कहते हैं। स्वतन्त्रतया (परानपेक्ष रूप से) स्थित रहने में असमर्थ व्यंजनरूप क्षरों का आश्रय बन कर उन्हें जो अपने में बाँधता है, वह ऐन्द्रवायव ग्रह ही प्रकृत में हंस है।

> 'ये अर्वाङ् उत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
> आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसम्॥

इस मंत्र में वायु को हंस कहा गया है। 'प्राणो वायुः' इस श्रुति से वह हंस प्राणरूप है। अक्षरसंज्ञक प्राण ही क्षरसंज्ञक व्यंजनवर्णों को अपने में बाँधता है। 'अपां दिव्यानां' में अप् शब्द वाक् का बोधक है।' सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च तस्मादापः' इस शतपथ श्रुति से यही सिद्ध हो रहा है। क्योंकि वाकतत्त्व ही अप्-रूप में परिणत होता है। तृतीय द्युलोक में वर्तमान वाक् तत्त्वों के समानभाव में यह हंस विचरण करता है। अर्थात् उनके साथ रहता है। अर्थात् ऐन्द्रवायवग्रहरूप प्राण तथा वाक् दोनों एक रूप हैं।

अष्टवर्णात्मिका वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। अनु शब्द की इत्थंभूताख्यान अर्थ में 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।' इस सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है तथा उसके योग में अनुष्टुप् शब्द में द्वितीया विभक्ति है। अनुष्टुप् शब्द सात व्यंजनों तथा उनके आत्मभूत स्वर के संनिवेशस्थानरूप नौ बिन्दुओं का बोधक है। नौ बिन्दुओं को व्याप्त कर अपना स्वरूपनिर्माण करने वाले अक्षर शब्द से गृहीत इन्द्र प्राण को वैज्ञानिकों ने विचारदृष्टि से मालूम किया। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय से वाक् का ही ज्ञान होता है न कि प्राण का, तथापि

अक्षररूपा वाक् अष्टवर्णों से अवच्छिन्न है और वे आठ वर्ण जितने प्रदेश मे आते हैं, उतने प्रदेश को वाक् अवरुद्ध नही कर सकती। अत वाक् के आलम्बन इन्द्र नामक प्राण को विद्वानो ने अपनी बुद्धि के द्वारा मालूम किया।

यह भूतसमूह वाङ्मय है अत अधिभूत पक्ष मे इस मन्त्र का अधिशब्द के समान ही अर्थ है। इसीलिये 'अप्रक्षित वसु बिभर्षि' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऐतरेयारण्यक श्रुति म कहा है—'सोऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध। तद्यथाऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एव सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्य प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्यात् 'अर्थात् यह आकाश बृहती प्राण से विधारित है। जिस प्रकार यह आकाश बृहतीप्राण से विधारित है उसी प्रकार पिपीलिकापर्यन्त सभी भूत बृहती प्राण से ही विधारित हैं।' यह ऐतरेय श्रुति शब्दाक्षरो की तरह भूताक्षरो म भी बृहती-प्राणरूप इन्द्र की समान अभिव्याप्ति बतला रही है।

उपर्युक्त रीति से सभव होने पर स्वर का क्रान्तिमण्डल सात व्यजनो तक होता है। किन्तु यह नियम नही है कि सात व्यजनो से युक्त स्वर ही अक्षर हो। एक अक्षर में नौ अर्द्धमात्रारूप बिन्दुओ की व्याप्ति की स्वरूपयोग्यता होते हुए भी सर्वत्र नौ बिन्दुओ को व्याप्त ही करे यह नियम नही है। यदि व्यजनो का सर्वथा अभाव हो तो केवल स्वर भी 'स्वरोऽक्षरम्' इस परिभाषा से अक्षर कहलाता है। किन्तु व्यजनो के होने पर व्यजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता है, व्यजन-रहित नही। व्यजनसहित होने पर भी कही एक व्यजन से, कही दो से, कही तीन से, कही चार से, कही पाँच से, कही छ से, कही सात व्यजनो से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'न' शब्द मे नकाररूप एक व्यजन से युक्त 'वाक्' मे 'व' तथा 'क' इन दो व्यजनो से युक्त तथा 'प्राक्' मे प, र, क इन तीन व्यजनो से युक्त स्वर अक्षर है।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि स्वरच्छायापन्न ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले ऊष्मा (श, ष, स, ह) वर्णो से युक्त होने पर ही स्वरक्रान्ति-मण्डल सात व्यजनो वाला होता है। अन्त स्थ और ऊष्म वर्णों के अभाव मे स्वर का आक्रमण-बल घट जाता है। इसलिए 'क्त्नट्प्' इस उदाहरण म स्वर पृष्ठन क, त, न इन तीन व्यजनो को

तथा पुरत ट, प इन दो व्यजनों को ही आक्रान्त करता है अधिक को नही। इस प्रकार वर्णविशेषो मे स्वरक्रान्तिमण्डल में तारतम्य (न्यूनाधिकता) होता रहता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर स्थान कण्ठादि का तथा आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्टादि का एव बाह्यस्थानो व बाह्यप्रयत्नो का बल में तारतम्य है। इसी कारण पत्व, णत्व, कुत्व, चुत्व आदि आभ्यन्तरस्थाननिबन्धन तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय आदि बाह्यस्थाननिबन्धन, व्याकरणशास्त्रोक्त सभी सन्धिफल होते रहते हैं, यह निरुक्तकारो का सिद्धान्त है।

जैसे—राजसु, वित्सु, रामेषु, हरिषु, हवीषि आदि उदाहरणो में सकार के परस्वर का अग होने पर भी पूर्ववर्ती अकार, इकारादि स्वरो के बल का आक्रमण होने से स्थानापकर्षण के कारण मूर्धन्य पत्व इकारादि से परे हो जाता है। अत 'रामाणाम्' 'वर्णानाम्' मे रेफ व ष के कारण न को ण हो जाता है। वाक्, स्रक्, रक्तम्, निर्णिक्तम् इत्यादि म कुत्व तथा 'सच्चरितम्' इत्यादि मे चुत्व हो जाता है। इस प्रकार स्थान व प्रयत्न के क्रान्तिबल के तारतम्य से विभिन्न सन्धिफल होते हैं।

इस प्रकार अक्षरस्वरूप की तथा अक्षर मे स्वर और व्यजन के अङ्गाङ्गिभाव की व्याख्या की। वहाँ स्वर के अङ्गभूत इन व्यजनो में उपसर्ग (पूर्वव्यजन) के होने या न होने पर उपधान (उत्तर व्यजन) बल के कार्योपधायक न होने से अक्षर लघु ही होता है। जैसे—अ, य, न्य, क्न्य आदि में। यहाँ अधोव्यापार अर्थात् स्वर से पूर्व व्यजनव्यापार के होने पर भी ऊर्ध्वव्यापार (स्वर के पश्चात् व्यजनव्यापार) के न होने से अक्षर लघु ही रहता है। उपधान में आक्रमण व्यापार के फलोपधायक होने से अक्षर गुरु हो जाता है। दीर्घ स्वरो (आ, ई, ऊ इत्यादि) सन्ध्यक्षर स्वरो (ए, ऐ, ओ, औ) अनुस्वारान्त स्वर (अं) विसर्गान्त स्वर (अः) व्यजनान्त स्वर, अत् आदि तथा दो व्यजनो के सयोग से पूर्ववर्ती स्वरो (अर्क-अक्त आदि) के उपहित (पश्चाद्वर्ती) वर्ण से युक्त होने के कारण आगे अर्कव्यापार होने से अक्षर म गुरुत्व उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार लघुगुरुभेद से अक्षर का द्वैविध्य है।

इतिश्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ मे अक्षरपरिष्कारनामक चतुर्थ प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

सन्धि-परिष्कार पञ्चम प्रपाठ

अक्षर का दूसरे अक्षर के साथ सम्बन्ध होने पर परस्पर बन्धन से हृदय-ग्रंथि की उत्पत्ति होकर क्षर की उत्पत्ति होती है। परब्रह्म विद्या मे जिस प्रकार भूत[१] क्षर कहलाते हैं उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे व्यञ्जन क्षर कहलाते हैं। इन्द्रियग्राह्य क्षर व्यञ्जन वर्णो मे इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य प्राण की अभिव्यक्ति होती है। अत 'व्यज्यते प्राण अनेन' इस व्युत्पत्ति से व्यजन वर्ण व्यजन कहलाते है।

१ निरूपकभेद से संधिद्वैविध्य

जिस प्रकार परब्रह्मविद्या मे अक्षरो तथा क्षरो का सन्धियोग (मेल) निरूपक के भेद से दो प्रकार का है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे भी अक्षरो व व्यजनो का सन्धियोग निरूपकभेद से दो प्रकार का है। वे दो प्रकार विभूति तथा योग हैं। इनमे योगसश्लेष तथा सपरिष्वङ्ग भेद से दो प्रकार का है।

विभूति

जहाँ युक्त (सम्बद्ध) वस्तुओ मे एक वस्तु सम्बन्ध के लिए व्यापारशील हो, बद्ध तथा परतन्त्र हो, तथा दूसरी व्यापाररहित अबद्ध तथा स्वतन्त्र हो, वहाँ व्यापक का व्याप्य मे अनुग्रह विभूति कहलाता है। [२]जल की लवण, मे आकाश की वायु मे दर्पण की मुख मे तथा अव्यय ब्रह्म की भूतसमूह मे व्याप्ति विभूति सम्बध है। यहाँ जलादि व्यापक है तथा लवणादि व्याप्य हैं।

जिस प्रकार लोक मे क्षररूप भूतो मे अक्षर रूप प्राण की व्याप्ति होती है। उसी प्रकार अक्षररूप स्वर की क्षर रूप व्यजनो मे व्याप्ति होती है। जैसे— 'स्त्यर्क् ट्' शब्द मे अकार रूप अक्षर (स्वर) की स् त् र् य् इन चार पूर्ववर्ती तथा र् क्, द् इन तीन उत्तरवर्ती व्यजनरूप क्षरो मे व्याप्ति है। क्षरो मे भी एक क्षर की दूसरे क्षर मे व्याप्ति विभूति सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'रामाणाम्', 'वर्म्मणाम्' इन उदाहरणो मे मूर्धन्य र् और ष् वर्णो के प्रयत्न की महिमा से दन्त्य नकार मूर्धन्य 'ण' बन जाता है। अत यहा मूर्धन्य वर्णों की व्याप्ति दन्त्य नकार वर्ण म है।

---

१ क्षर सर्वाणि भूतानि। गीता० अ० १५।

२ अम्भो लवणे, वायौ व्योम, मुखे दर्पण यद्वत्।
विभवति तद्वत् विरजा भूतग्रामेऽव्यय परम ॥

सश्लेष

उपर्युक्त उदाहरणो मे ही व्याप्य का व्यापक मे सम्बध सश्लेष कहलाता है। इस सम्बन्ध को एकत (इकतरफा) बन्धयोग कहते हैं। जैसे—[1]लवण का जल मे, वायु का आकाश में, मुख का दर्पण मे तथा विरजा अव्यय ब्रह्म का भूतसमूह मे सम्बन्ध तथा व्याप्य लवणादि का व्यापक जलादि में सम्बन्ध सश्लेष कहलाता है।

इसी प्रकार व्यजन अबद्ध स्वतत्र स्वर में सश्लिष्ट अर्थात् बद्ध हैं। व्याप्य व्यजनो का व्यापक स्वर मे जो सम्बन्ध है वही सश्लेष है। क्षरो में भी एक का दूसरे के साथ सश्लेष होता है। वहाँ सश्लेषण द्रव्य के सम्बध मे एक का दूसरे के साथ सम्बन्धमात्र होता है एक का दूसरे मे अनुप्रवेश नही। इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में कहा है —

अर्थात् "अव्यक्त स्वरूप वाले मैंने सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है। सारे भूत मेरे मे स्थित है किन्तु मैं भूतों मे स्थित नही हूँ।" ८ गीता ९ अ ४। मेरे इस ईश्वरीय सम्बन्ध को देखो कि भूत मेरे म स्थित नही है। मैं भूतो को धारण करने वाला हूँ पर भूतो मे स्थित नही हूँ। मैं भूतभावन हूँ। गीता ९।५।

जिस प्रकार सवत्र गतिशील महान् वायु आकाश मे स्थित है उसी प्रकार सारे भूत मेरे मे स्थित हैं, यह समझो।" गीता अ ९।६।

इन गीतापद्यो मे प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध मे विभूति सम्बन्ध का निरूपण है।

'मत्स्थानि सवभूतानि' इस तृतीय पाद में एकतो बन्धनात्मक सश्लेष-रूप योगसम्बन्ध का निरूपण है। 'न चाह तेष्ववस्थित ' 'इस चतुर्थपाद में उस सश्लेष में दूसरे (अव्यय) का अबन्धन बतलाया गया है।' न च मत्स्थानि भूतानि' इसके द्वारा भूतो का ब्रह्म से सश्लेष होने पर भी वह परस्पर समन्वयरूप अनुप्रवेशात्मक नही है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

२ व्यजनभेद से सश्लेषसाप्तविध्य

इस सश्लेप सम्बन्ध को व्यजनभेद से सात प्रकार का याज्ञवल्क्य ने माना है — [2]अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, ज्वालापिण्ड, मृत्पिण्ड, वायुपिण्ड

---

१ अम्भसि लवण, वायुर्व्योम्नि, मुख दपर्णे यद्वत्।
श्लिष्यति तद्वत् विरजसि भूतग्रामोऽव्यये परमे॥

२ अथ सप्तविधा सयोगपिण्डा —
यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डवत्।
अन्तःस्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्ड विनिर्दिशेत् ॥१॥

तथा वज्रपिण्ड। जब वर्णों (व्यजनो) का सयोग यम वर्णों के साथ होता है, तब उस सयोग को अय पिण्ड कहते हैं। अर्थात् यम वर्णों मे इस प्रकार विच्छेद करना चाहिए जिसमे जिस प्रकार परस्पर सश्लिष्ट अवयव वाले लोह-खण्डो का विच्छेद होता है ऐसा विच्छेद प्रतीत हो। जैसे अग्ग्नि ' पलक्क्नी इत्यादि मे गकार के पूर्वाङ्ग होने मे अकार के साथ उच्चारण होने से जब नकार मे उसका विच्छेद होता है तब गकार तथा नकार का मध्यवर्ती नकारगुणक अनुनासिक द्वितीय गकार रूपी यम वर्ण भी साथ ही उच्छिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति मे यमवर्ण का उत्पत्तिकालिक पूर्व गकार से पृथक् श्रवण नही होता।

अन्त स्थ वर्ण य, र, ल, व के साथ व्यजनो के सयोग को दारुपिण्ड कहते हैं अर्थात् अन्त स्थसयुक्त पिण्डो मे इस प्रकार वर्णविच्छेद होता है जिस प्रकार काष्ठ के शिथिलरूप म सश्लिष्ट अवयवो का होता है। जसे—सत्यम्, अश्व, विल्मिने, इत्यादि में तकार यकारादि का विच्छेद। अन्त स्थ तथा यम वर्णों को छोडकर ऊष्मवर्णों के साथ व्यजनो के सयोग को ऊर्णापिण्ड कहते हैं। अर्थात् ऊष्म वर्णों के साथ व्यजनो का सयोग होने पर उनका इस प्रकार से विच्छेद करना चाहिए जिस प्रकार शिथिल अवयव वाले ऊर्णा (ऊन) के पिण्डावयवो का होता है। जैसे—अश्व, अश्मन्, अस्मे इत्यादि मे। अत-स्थवर्णों के साथ सयोग में पञ्चम तथा अपञ्चम वर्णों के मध्यवर्ती विच्छेद के अशरीर होने से कोई विशेषता दृष्टिगोचर नही होती। इसी प्रकार अन्तस्थ वर्णों के साथ सयोग मे भी अन्तस्थवर्णों के लघुप्रयत्नतर होने से आत्यन्तिक सन्निकर्ष के कारण पिण्डनायक होने से किसी विशेषता की उपलब्धि नही होती।

नासिक्य पञ्चमवर्णों के साथ हकार के सयोगपिण्ड को ज्वालापिण्ड कहते हैं। जैसे वह्नि, ब्रह्म, गृह्णामि इत्यादि मे। अनुस्वार तथा अनुनासिक-सहित सयोगपिण्डो को मृण्मय पिण्ड कहते है। जैसे—त्रिंशी, सस्तुप् इत्यादि मे। सोपध्मान (उपध्मानयुक्त) सयोगपिण्डो को वायुपिण्ड कहते है।

अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते।
अशरीर यम विद्यादन्त स्थ पिण्डनायकम् ॥२॥
ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान्।
सोपध्मान् वायुपिण्डांस्तु जिह्वामूले तु वज्रिण ॥

जैसे—द्यौः पिता इत्यादि मे। यहाँ पवर्ग से पूर्व ऊष्म उपध्मानीय के उच्चारण मे वायु की सी गम्भीर ध्वनि होती है, इस सयोग को वायुपिण्ड कहते हैं। जिह्वामूलसहित सयोगपिण्ड को वज्रपिण्ड कहते हैं क्योकि कवर्ग से पूर्व ऊष्म वर्णों का उच्चारण करने पर ऊष्मवर्ण का खकार के समान उच्चारण होने से पकार की ककार के साथ वज्र की तरह अत्यन्त सश्लिष्ट प्रतीति होती है, अत इसे वज्रपिण्ड सयोग कहते है।

सम्परिष्वङ्ग

सपरिष्वङ्ग सम्बन्ध परस्पर बन्धनरूप होता है। अक्षर का अक्षर से सम्बन्ध सपरिष्वङ्ग (सम्बन्ध) होता है जैसे शारीरक विज्ञानात्मा का प्राज्ञ आत्मा के सम्परिष्वङ्ग सम्बन्ध है क्योकि दोनो ही आत्मा प्राणरूप होने से अक्षर हैं। इसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या मे एक स्वर (प्राण) का दूसरे स्वर से मेल (सन्धि) होता है। जैसे—'नदीय, भानूदय' इत्यादि मे क्रमश ई+इ तथा उ+उ इन दो-दो स्वरो का मेल है। दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति, दात्रास्ति इन उदाहरणो मे क्रमश इ, उ, ऋ, इन स्वरो का परस्वर अकार से योग है। दिव्यस्ति इत्यादि मे इकारादि का परस्वर से मेल होने पर तीन स्थितियो की सभावना की जाती है। दबाने से सकोच होता है और इस प्रकार एकमात्र स्वर की अर्धमात्रा शेष रह जाती है। अथवा अन्य स्वर के उदर मे दूसरे स्वर के अग का प्रवेश हो जाता है और इस नवबिन्दुपर्यन्त व्याप्ति वाले स्वर मे पञ्चम व षष्ठ बिन्दु जो कि स्वर के स्वरूप है, उनमे इकार की षष्ठ बिन्दु मे अकार की पञ्चम बिन्दु का समावेश हो जाने से एकमात्रिक इकार की अर्धमात्रा ही शेष रह जाती है। अथवा दोनो स्वरो के अत्यन्त समीप आकर मिलने पर स्वर का एक अग इकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अकार मे सयुक्त इकार स्वर की अर्धमात्रा कट जाती है। अर्धमात्रा का छेद हो जाना ही इकार की अङ्गक्षति है। इन तीनो ही स्थितियो मे अर्थात् स्वर का सकोच मानने मे, इकार स्वर की षष्ठ बिन्दु मे अकार के पञ्चम बिन्दु का समावेश मानने मे तथा अकार से सयुक्त होने पर इकार के अर्धमात्रारूप अग की क्षति मानने मे फलत कोई अन्तर नही पडता है। तीनो ही स्थितियो मे इकार स्वर की पूर्व अर्धमात्रा शेष रहती है और उत्तर अर्धमात्रा नष्ट हो जाती है। अत वह स्वर अपने स्वरूप एक मात्रा से च्युत होने के कारण स्वर न रहकर अर्धमात्ररूप व्यजन मे परिणत हो जाता है। पर उसी स्थान के व्यजन मे उसका परिणाम

होता है जिस स्थान मे उस स्वर का सम्बन्ध था। अर्थात् इकार का तालु-स्थान है। अत उसकी अर्धमात्रा का विच्छेद होकर अर्धमात्रा शेष रह जाने पर जब वह व्यजनरूप म परिणत होता है तो तालुस्थानीय यकाररूप व्यजन म ही परिणत होता है अन्य वकारादि व्यजनो मे नही।

किन्तु उपर्युक्त तीनो प्रकारो मे भगवान् पाणिनि को स्वर का सकोच ही अभिप्रेत है। इसीलिये वे 'इग यण सम्प्रसारणम्, इस सूत्र मे यकार का इकाररूप म परिणाम होने पर उसकी सप्रसारणसज्ञा बतलाते है। क्योकि प्रसारण सकुचित का ही होता है। यदि दूसरे स्वर के उदर मे दूसरे स्वर का अनुप्रवेश उ हे अभीष्ट होता तो वे उस अनुप्रवेश के हटने पर अनुप्रवेश-विरोधी उद्धरण शब्द का प्रयोग करते। तथा उन्हे अगक्षत अभीष्ट होता तो क्षत की पुन सम्पत्तिरूप अनुसम्पत्ति पद का वे प्रयोग करते। पर दोनो का ही प्रयोग न कर समचनविरोधी सम्प्रसारण का प्रयोग करने से उन्हे इन तीनो प्रकारो मे समचनपक्ष ही अभिप्रेत है। श्रुति ने भी [1]सार्वायुपाग्निविद्या मे अधिदैवत (परब्रह्मविदया) मे समञ्चन व प्रसारण का ही प्रतिपादन किया है। अर्थात् यह अग्नि पशु है। जब पशु अगो को सकुचित करता है और उन्हे फैलाता है, तो उसमे इस क्रिया से सामर्थ्य उत्पन्न होती है। सकोचन व प्रसारण प्राण है। जिस अग मे प्राण की स्थिति है, उसी का सकोच व प्रसार होता है। उपर्युक्त रीति से परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म मे भी वाक्प्राण के सकोच व प्रसार से ही व्यजन व स्वर की सिद्धि होती है। अर्थात् व्यजनो मे प्रसार होने से वे अधमात्रा से बढकर एक मात्रा म आ जाते है, और स्वर बन जाते है। जसे—यकार प्रसारित होकर 'इ' स्वर बन जाता है। इसी प्रकार स्वर सकोचन के द्वारा अर्थात् एक मात्रा से अधमात्रा मे सकुचित होने पर व्यजन बन जाते है। जैसे—दिव्यस्ति, इत्यादि मे इकारस्वर सकुचित होकर यकार व्यजन बन जाता है। यह समञ्चन (सकोच) दो स्वरो के सम्परिष्वङ्गरूप सम्बन्ध-विशेष से ही होता है।

---

१ 'अयात समञ्चनप्रसारणस्यैव। पशुरेष यदग्नि। यदा वै पशुरङ्गानि सचाञ्चति प्र च सारयति। अय स तैर्वीर्यं करोति। प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्' यस्मिन वा अङ्गे प्राणा भवति तत स चाञ्चति प्र च सारयति" इति। शत० ८।१।१४।

जैसे स्वर के परे होने पर ङ, ण, न से तत्समान विभागज उपजन (वर्णागम) होता है उसी प्रकार स्वरभक्ति के परे होने पर भी होता है। अर्श, अर्हे, श्च्योतते, स्यात्, आदि में शकारादि उष्म-वर्णों के उच्चारण में पूर्व अकार इकार आदि रूप स्वरभक्ति की प्रतीति होती है। इस स्वरभक्ति के परे होने पर भी ङ, ण, न इन नासिक्य वर्णों के पश्चात् तत्समान विभागज ङ, ण, न का उपजन होता है। जैसे—'प्राङ्क् षष्ठ, सुगण्ट् षष्ठ 'सन्त्स' सञ्च्छम्भु, इन उदाहरणों में स्वरभक्ति के कारण' षकारादि से पूर्व ङ, ण, न का आगम है। किन्तु वह उपजन (आगम) उन वर्णों से परे षकारादि से पूर्व विद्यमान अकारादि स्वरभक्ति के कारण है। यहा क्रमश ङ, ण, न, ये विभागज उपजन परवर्ण के अङ्ग है। और परवर्ण षकारादि निरनुनासिक वर्ण है, अत उन उपजनों में से भी नासिक्यतापादक यत्न की निवृत्ति हो जाती है अत वे ङ ण, न क्रमश तत्स्थानीय नासिक्यरहित क, ट, त में परिवर्तित हो जाते है। क्योंकि उन उपजनों के सन्निकृष्ट उष्म वर्ण नासिक्यविरोधी गुण से युक्त है।

षट्त् सुखिन, षट्त्सन्त, इत्यादि में टकार के बाद होने वाले विभागज उपजन'ट'केपराङ्ग होने से और उत्तरवर्ती सकार मे दन्तस्थानत्व गुण की प्रबलता के कारण वह दन्त्य 'त' मे परिवर्तित हो जाता है। स्वर से परे विद्यमान रेफ व हकार से परे जो ह, श, ष, स, य, र, ल, व, से भिन्न वर्ण हैं उन पर पूर्वस्वर का क्रमण होता भी है और नहीं भी होता, अत वहाँ क्रमज, विभागज व्यजन विकल्प से उत्पन्न होता है। जैसे-तक्क, स्वग्ग, गर्ज्ज, ब्रह्म, नह्यस्ति आदि मे। किन्तु जहाँ रेफ व हकार से परे उष्म या अन्तस्थ व्यजन होते हैं वहाँ क्रमज या विभागज व्यजन उत्पन्न नही होता। जैसे—स्वर्यम् आदि उदाहरणो मे।

छकारभिन्न सोष्म स्पर्शवर्णों मे पराङ्गता प्रबल होती है, अत वहा पूर्व स्वर का क्रमण नही होता और वहाँ तत्समान विभागज व्यजन उत्पन्न नही होता। जसे—मख, मघा, शठ, वध, सभा आदि उदाहरणो मे। किन्तु छकार वर्ण मे पराङ्गता का स्पर्श होने पर स्वभावत उस मे पूर्व स्वर का भी क्रमण होता है अत क्रमज चकार उत्पन्न होता है और वह उष्मवर्ण छकार से युक्त होता है। जैसे—स्वच्छाया, शिवच्छाया, चेच्छिद्यते आदि में। किन्तु पद के अन्त मे दीर्घ स्वर हो और उसमे परे छकार व्यजन हो तो वहाँ पदान्त यति के

द्वारा पूर्व स्वर तथा छकार का विच्छेद हो जाने से पूर्व स्वर का क्रमण छकार मे नही भी होता और कदाचित् होता भी है अत वहाँ क्रमज चकार वर्ण की उत्पत्ति विकल्प से होती है। जैसे-माच्छाया, मा छाया मे, माच्छिदत्, आच्छादयति इत्यादि मे पदान्त यति से विच्छेद हो जाने पर भी जो क्रमज चकार व्यंजन दृष्टिगोचर होता है उसका कारण यहाँ एकपदत्व की विवक्षा ही है। अत पदान्त यति मे विच्छेद नही होता है और पूर्वस्वर के क्रमण से क्रमज चकार व्यजन उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि यह वर्णोपजन (वर्णागम) का वैचित्र्य दो व्यजनो की सन्धि होने पर व्यजना की गुणप्रकृति पर निर्भर है तथापि यह वर्णगुणप्रकृत्यनुकूल उच्चारण करने वाले सम्प्रदायविशेष से ही बनता है। आच्छादयति इत्यादि मे दीर्घ स्वर से परे छकार से पूर्व चकार का उपजन साम्प्रदायिक उच्चारण की प्रकृतिविशेष के कारण ही है। यह क्रमज उपजन विवक्षा के अधीन होता है, ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) नहीं। क्योंकि पूर्वस्वर का क्रमण उच्चारणविशेष के अधीन होने से साम्प्रदायिक है। अर्थात् वह उच्चारयिता सम्प्रदायविशेष पर आश्रित है। इसलिए दीर्घ स्वर से परे द्वित्व नही होता, ऐसा आचार्य उपवर्ष मानते है। इन्द्र, राष्ट्रम्, इत्यादि मे दो से अधिक व्यजनो के योग मे द्वित्व नही होता ऐसा शाकटायन मानते हैं। कहीं भी द्वित्व नही होता, ऐसा शाकल्य मानते हैं। उपर्युक्त उपजन (वर्णागम) सम्प्रदायविशेषाधीन होते हुए भी वर्णप्रकृति की अपेक्षा से होते हैं। इसीलिए इनका यहाँ कथन किया गया है।

कुछ वर्णागम वर्णप्रकृति से निरपेक्ष होते हैं और केवल भाषा–व्यवहर्ता की प्रकृति की अपेक्षा से ही होते है। जैसे—[1]विश्ववाट्, मुड्, धुक् इत्यादि मे हकार से पूर्व ट् व ग् का आगम। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, सजभार आदि मे हकार से पूर्व व् का आगम होता है और ह के योग से व् सोष्म बनकर भ हो जाता है। स्वैर, स्वैरी, सुखार्त प्रार्णम्, प्राच्छंति आदि मे क्रमश ईर, ईरिन्, ऋत, ऋण, ऋच्छति से पूर्व अकार का आगम होता है।

२ वर्णलोप

लोप (वर्णलोप) –उपघातक बल के कारण कहीं वर्णों का लोप हो जाता है। जैसे—'प्रयुगम' इस शब्द म उच्चारण के दोष से 'य्' वर्ण का लोप हो जाता

१ विश्ववाड मुड धुगित्यादौ हकारात् प्राग डगागम ।
गभ उद्ग्रामनिग्रामौ सजभारेति वागम ॥

मे काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। वह (१) स्वरोपधायक (२) अङ्गोपधायक (३) स्पर्शोपधायक (४) स्थानोपधायक तथा (५) नादोपधायक भेद से पाँच प्रकार का है। स्वरोपधायक बल के कारण एक ही अकार अ-अ, अ इस प्रकार से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से तीन प्रकार का बन जाता है। अङ्गोपधायक बल के कारण अकारादि एक-एक अक्षर मे अ आ आ ३ इस प्रकार से ह्रस्व दीर्घ व प्लुत भेद बन जाते हैं। उच्चारणकृत ह्रस्वदीर्घादि भेद अकारादि अक्षरों में ही है, ककारादि व्यजनो मे नही, क्योंकि व्यजनो का उच्चारण अकारादि स्वरो के अधीन है अत वे स्वर के अग है, स्वतन्त्र नही। और व्यजन-सहित स्वर एक ही अक्षर कहलाता है भिन्न नही। स्पर्शोपधायक बल के भेद से अ, ऽ, अ, ग, क, ह इत्यादि वर्णधारायें बनती हैं। जसे— 'अ' अस्पृष्ट है। 'ऽ' ईषत्स्पृष्ट है। 'अ' दु स्पृष्ट है। 'ग' मृदुस्पृष्ट है। 'क' तीव्रस्पृष्ट है। 'ह' अर्द्धस्पृष्ट है। अत ये सब भेद स्पर्शोपधायक बल के भेद से होते है। स्थानोपधायक बल के भेद से एक ही वर्णोपादानभूत वायु अ, इ, ऋ, ऌ, उ, इन वर्णधाराओ का स्वरूप धारण कर लेती है। 'अ' कण्ठ्य है। 'इ' तालव्य है। 'ऋ' मूर्धन्य है। 'ऌ' दन्त्य है। तथा 'उ' ओष्ठ्य है। नादोपधायक बल के भेद से उपांशुवाक्रूप मध्यमा वाक् वैखरी वाक् मे परिणत हो जाती है।

७ विशेपक बल का पाञ्चविध्य

उपयु क्त पाचो बलो मे विनियुक्त बल विशेपक कहलाता है। वह भी (१) उपजनक (२) उपघातक (३) विक्षेपक (४) विशेपाधायक (५) निरोधक भेद से पाच प्रकार का है। प्रयत्नोपजनक बल से वर्णागम होता है। प्रयत्नोपघातक बल से वर्णलोप होता है। प्रयत्नविक्षेपक बल से वर्ण-विपर्यय होता है। विशेपाधायक बल से वर्णादेश होता है। इन चारो बलो के निरोधक बल से प्रगृह्यता आती है। विकार के प्रतिबन्ध से स्वरूप मे स्थितिरूप प्रकृतिभाव ही प्रगृह्यता है। इस प्रकार आरम्भक बल मे विशेपक बल के तारतम्य के कारण दूसरे वर्ण के विच्छेद से सहित या रहित बलवान् व्यजन के गुणो से बाधित निर्बल व्यजन के गुण हट जाते है, नष्ट हो जाते हैं। और उन निवृत्त गुणो का स्थान आक्रामक बलवान् व्यजन के गुण ले लेते हैं। इसलिए ये पाँच प्रकार के उपयु क्त वर्णागमादि अनेक सन्धिफल उत्पन्न होते है। जसा कि कहा गया है—

वर्णागमो[1] वर्णविपर्ययस्[2]तल्लोपस्[3]तदादेश[4] इमे विकारा ।
स्थिति[5] प्रकृत्येति च पञ्च सन्धे फलानि वर्णद्वयसन्निकर्षे ॥

१ वर्णागम

सयोग-विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति भगवान् कणाद ने बतलाई है। स्वर के उत्तर (बाद) नासिक्यभिन्न, पद के अन्त मे वर्तमान स्पर्श वर्ण अवसान मे तथा व्यजन से पूर्व अपदान्त स्पर्श वर्ण पूर्व स्वर से आक्रान्त होते हैं। वहाँ बलवान् सयोग से उत्पन्न वर्ण के समान प्रतिध्वनिरूप एक विभागज वर्ण और उत्पन्न होता है वह क्रमज नामक उपजन (आगम) है। उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छिन्न होकर उच्चारण का कारण पूर्वस्वर से निग्रहण ही क्रमण है। अर्थात् उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छेद होने पर ही वह पूर्व स्वर से निगृहीत होकर उच्चारित होता है। क्योकि बिना स्वर के व्यजन का उच्चारण सभव नही। जैसे—'रामात् त्' इस उदाहरण मे आकार के उत्तर अव्यवहित तकार वर्ण की उत्पत्ति स्थान और प्रयत्न के सयोग से होती है, किन्तु वेग के साथ स्थान और प्रयत्न का विभाग होते समय भी सयोगज वर्ण के समान ही उसकी प्रतिध्वनि के सदृश एक तकार वर्ण की और उत्पत्ति होती है, वही वर्ण स्थान और प्रयत्न के विभाग से उत्पन्न होने के कारण विभागज वर्ण है। परन्तु उसके उच्चारण म भी सयोगज वर्ण के समान पूर्व स्वर ही कारण है। यही स्थिति वत्त्स, आत्त्मा, सत्त्यम्, शक्क्र, आतनच्न्मि, मज्ज्मा, इन उदाहरणो मे है। इतना भेद अवश्य है कि 'रामात्त्' अवसान म विद्यमान पदान्त स्पर्श का उदाहरण है और 'वत्त्स' आदि व्यजन से पूर्व विद्यमान अपदान्त स्पर्श के उदाहरण हैं। यह वर्ण पराङ्ग होता है।

हकार व्यजन के परे होने पर यह क्रमज विभागज वर्ण सोष्मवर्ण बन जाता है क्योकि यह वर्ण पराङ्ग होता है और ऐसे स्थलो मे पर-व्यजन उष्म हकार होता है अत उसके सम्बन्ध से यह विभागज वर्ण भी सोष्म हो जाता है। जैसे—'वाग् हस्ती' इस उदाहरण में गकार के समान जिस नवीन विभागज वर्ण की उत्पत्ति होती है, वह पराङ्ग है। अत उसका हकार से योग होने के कारण 'ग्' 'घ्' बन जाता है और 'वाग् हस्ती' 'वाग्घस्ती' म परिवर्तित हो जाता है।

ह्रस्व स्वर से परे विद्यमान ङ, ण, न से भी स्वर परे होने पर विभागज ङ, ण, न वर्णो की उत्पत्ति होती है। वे भी पराङ्ग होते हैं। प्रत्यङ्ङात्मा, सुगण्णीश, सन्नच्युत इसके उदाहरण हैं।

सन्निकर्ष के भेद से सन्धिद्वैविध्य

वर्णों के सनिकर्पभेद से सन्धि के दो भेद हो जाते हैं। सनिकर्प के दो भेद सङ्क्रान्ति तथा सहिता हैं। पूर्वोक्त विभूति, सश्लेष एव सपरिष्वङ्गरूप वर्णों के तीनो योग ही व्याकरणसिद्धान्त मे सन्धिशब्द से व्यवहृत होते हैं। इनमे वर्णान्तर के विच्छेद मे युक्त विभूतियोग ही सङ्क्रान्ति-सम्बन्ध कहलाता है। तथा शेष सश्लेप, व सपरिष्वङ्गयोग सहिता कहलाते हैं। जैसा कि कात्यायन ने प्रातिशाख्य म कहा है—'वर्णानामेकप्राणयोग सहिता'। अर्थात् वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध हो सहिता है। वह एक प्राण, स्वर का क्रान्तिमण्डल (व्याप्तिमण्डल) अनुष्टुप् छन्द है।' 'प्राणा वै देवा वयोनावाश्छन्दासि वै देवा वयोनाधा' इस शतपथश्रुति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि प्राणविशेष जब अवच्छेदक बनता है तब छन्द कहलाता है। वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या वर्णान्तर के विच्छेद मे भी बन जाता है। जैसे - 'स्त्र्यर्क् ट्' इस उदाहरण मे आदि म स्, त र् य् का अन्त मे र् ट् क् का अकार-रूप एक प्राण (स्वर) से सम्बन्ध है। क्योकि उन सब मे एक अकार स्वर का ही सम्बन्ध है किन्तु उसे सहिता नही कह सकते क्योकि उनका एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या विच्छेद से युक्त है वर्णान्तर के विच्छेद से रहित नही। इसी वर्णान्तर-विच्छेद-सहित एक-प्राणसम्बन्ध का निराकरण करने के लिए पाणिनि ने सहिता की परिभाषा मे 'पर सनिकर्प सहिता' सूत्र मे 'सनिकर्प' मे पर-विशेषण का प्रयोग किया है। यहाँ पर-शब्द का अर्थ वर्णान्तर-विच्छेद-राहित्य है।

परसनिकर्प की व्याख्या करते हुए किसी ने जो यह कहा है कि 'एक वर्ण के बाद दूसरे वर्ण का उच्चारण करने मे जो स्वभावत अर्धमात्रा का काल लगता है उतने व्यवधान से भिन्न व्यवधान का न होना पर-सनिकर्प है, यह उचित नही है क्योकि दो पदो का योग होने पर सुऽवचा' इत्यादि मे अवग्रहादि-स्थल म एक पद के बाद दूसरे पद के उच्चारण मे अर्धमात्राकाल के व्यवधान की प्रतीति होने पर भी दो वर्णों का सम्बन्ध होने पर दोनो वर्णों के बीच अर्धमात्रा से भी अल्पकालिक अवकाश की ही प्रतीति होती है अर्धमात्राकाल की नही। दो वर्णों के बीच का वही अर्धमात्रा से भी स्वल्पकालिक अवकाश सहिता कहलाता है। अर्थात् दो वर्णों मे अव्यवधानजनित विच्छेद का अभाव

सहिता है। अन्यवण से व्यवहित दो वर्णा का सनिकर्ष सक्रान्ति कहलाता है। इस प्रकार सक्रान्ति तथा सहिताभेद से सन्धि दो प्रकार की होती है।

५ आश्रयभेद से सन्धिद्वैविध्य

आश्रयभेद से भी सन्धि के दो भेद है। वे दो भेद स्वरसन्धि व व्यजन-सन्धि है। स्वरसन्धि सहिता (वर्णान्तर के व्यवधान से रहित दो वर्णो के सनिकर्ष) म ही होती है, वर्णान्तरव्यवधान वाले सक्रान्तिरूप सनिकर्ष म नही। एक स्वर की व्याप्ति नवबिन्द्वात्मक प्रदेश मे मानी जाती है। एक बिन्दु 'व्यजन' अर्थात् अवमात्रा का प्रतीक है। उस नवबिन्द्वात्मक प्रदेश मे पञ्चम व षष्ठबिन्दुरूप एकमात्रारूप प्रदेश स्वर का स्वरूप है। पञ्चम-बिन्दुरूप अर्धमात्रा स्वर का पूर्वार्द्ध तथा षष्ठ बिन्दुरूप अर्धमात्रा स्वर का उत्तरार्द्ध कहलाता है। दोनो से स्वर का रूप निष्पन्न होता है। वहाँ दो स्वरो की सहिता होने पर पूर्व स्वर की षष्ठ बिन्दु अर्थात् उत्तरार्द्ध, परस्वर की पञ्चम बिन्दु अर्थात् पूर्वार्द्ध बन जाता है। जिसका दिग्दर्शन 'दिव्यस्ति' इस उदाहरण मे पूर्व ही किया जा चुका है। वहाँ इकार-स्वर की षष्ठ बिन्दु अर्थात् इकार का उत्तरार्द्ध उत्तर स्वर अकार की पञ्चम बिन्दु अर्थात् पूर्वार्द्ध बन गया है और अपने उत्तरार्द्ध से वह इकार च्युत हो गया है। इसी से अर्धमात्रारूप शेष रहकर वह स्वर-सम्पत्ति से विहीन हो जाता है और तत्स्थानीय यकार मे परिवर्तित हो जाता है। यह स्वरसन्धि है।

अन्य अक्षर से निगृहीत व्यजन का दूसरे अक्षर से निगृहीत होना व्यजन-सन्धि है। जैसे—'तत्+आगमन' मे दूसरा तकार सन्धि से पूर्व पूर्वतकारोत्तरवर्ती अकार स्वर से गृहीत है किन्तु जश्त्वरूप व्यजनसन्धि के बाद तत्स्थानीय 'द्' 'आगमनम्' पद के आदि स्वर आकार से गृहीत हो जाता है। उच्चारण से इसको स्पष्ट जाना जा सकता है। यही व्यजनसन्धि है।

६ बलभेद से सन्धिद्वैविध्य

बलभेद से भी सन्धि दो प्रकार की है। स्वरसन्धि तथा व्यजनसधि के द्वारा वर्ण के गुणो का अतिरेक होता है। अन्यरूप से विद्यमान का अन्यरूप हो जाना अतिरेक कहलाता है। वर्णो के उपादानकारण वायु में वर्ण के स्वरूप तथा तद्विशेष के उत्पत्त्यनुकूल बल को वर्णगुण कहते है। बल आरम्भक तथा विशेषक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूप की उत्पत्ति

है और 'प्रउगम्' ऐसा उच्चारण किया जाता है। 'उद् स्निग्' म उच्चारण-दोष से उद् के द् का लोप हो जाता है और उ से परे दन्त्य न को मूर्धन्य ण होकर उसके प्रभाव से दन्त्य 'न' मूर्धन्य 'ण' म परिणत हो जाता है और उष्णिक् ऐसा उच्चारण किया जाता है। उद् उपसर्गपूर्वक स्था तथा स्तम्भ् धातु म प्रयत्न के उपघात से स का लोप हो जाता है। जैसे—उत्थानम् व उत्तम्भनम् म। अवसान म सयोग के अन्तिम वर्ण का प्रयत्नोपघात से लोप हो जाता है। इसी प्रकार अथ शब्द म थकार के उत्तरवर्ती अकार का स्थानविपर्यय होकर वह पद के आदि मे आ जाता है और दोनो के योग मे आ वन जाता है। पश्चात् अन्त मे स्वर के न रहने से त्+ह् इन सयुक्त व्यजनो मे सयोग के अन्तिम व्यजन 'ह्' का लोप हो जाता है और आत् वन जाता है। जैसा कि 'आद्राग्नी वासस्तनुते सिमस्मै' मे है। यह आत् जव स्वतन्त्र निपात होता है तव इसके स्थान म इसके पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग हो सकता है। जैसे—'आद्राग्नी' म आत् के स्थान म अथ शब्द का प्रयोग। किन्तु जव यह 'आत्' पञ्चमी विभक्ति के निपात-रूप से विवक्षित होता है तव इसके स्थान म पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग नही हो सकता। जसे - देवात् के स्थान मे 'देवथ' ऐसा प्रयोग नही हो सकता। जब यह आत् 'स्म' निपात से सयुक्त होता है तव सर्वनाम यत्, तत् आदि शब्दो के अन्तिम तकार का प्रयत्नक्लेश के कारण लोप हो जाता है। जैसे—यस्मात्, आदि मे। व्यजन से परे वर्तमान नासिक्य अ न स्थ व्यजनो का नासिक्य अन्त स्थ व्यजन परे होने पर लोप हो जाता है।

व्यजन से परे विद्यमान नासिक्य वर्णो का नासिक्य वर्ण परे होने पर जो लोप होता है, वह जिस नासिक्य वर्ण का लोप होता है, वह तत्सजातीय नासिक्य वर्ण के परे होने पर ही होता है, भिन्न नासिक्य वर्ण परे होने पर नही। इस लिए 'तन्म्नाम्' इस उदाहरण मे 'न्' से परे 'म्' का लोप नही होता है, क्योकि उससे परे जो नासिक्य वर्ण है, वह 'म्' न होकर तद् विजातीय 'न्' है।

'शय्या' इत्यादि म प्राकृतिक दो यकार-वर्णो मे एक यकार का क्रमज अर्थात् विभागज तृतीय यकार के परे होने पर लोप हो जाता है। अ र अन्ततोगत्वा दो यकार ही शेष रह जाते है--एक प्राकृतिक और एक क्रमज। अदितेरपत्यम् आदित्य, म एक यकार का क्रमज (विभागज) यकार परे होने पर लोप हो जाता है।

आदित्यदेवताक स्थालीपाक आदित्य शब्द में दो यकार हैं। एक मूल आदित्यशब्द का तथा दूसरा ण्य प्रत्यय का। इन दोनों का ही क्रमश तृतीय यकार परे होने पर लोप हो जाता है।

व्यजन से परे वर्तमान नासिक्य अन्त स्थ वर्णों से भिन्न व्यजनों का सवर्ण व्यजन परे होने पर लोप हो जाता है। जैसे—मरुत, प्रत्तम्, अवत्तम्, इत्यादि मे दो तकारों म से एक तकार का क्रमश तकार परे होने पर लोप हो रहा है। व्यजन से परे वर्तमान नासिक्य तथा अन्त स्थ वर्णों से भिन्न व्यञ्जनो का सवर्ण व्यञ्जन परे होने पर जो लोप होता है, वहा जिस व्यञ्जन का लोप होता है, वही व्यञ्जन परे हो, यह नियम नहीं। अत 'शिण्ढि' व पिण्ढि, म ढकार परे होने पर भी डकार का लोप हो जाता है। ग्रन्थु शब्द म ग्रन्थ् धातु से 'तु' प्रत्यय करने पर तकार का लोप हो जाता है।

इ या ए अथवा उ या ओ के परे होने पर क्रमश यकार व वकार की अभिव्यक्ति नही होती। जैसे–नरयीश्वर नर ईश्वर, योग्यायीश्वर, योग्या ईश्वर, भोयेक, भो एक, हरयेव, हर एव, त्योतास, तोतास उदाहरणो मे यकार व वकार की अभिव्यक्ति न होने से यकार-वकार-सहित तथा यकार-वकाररहित शब्दों का समान ही उच्चारण होता है। यकार व वकार की अभिव्यक्तिस्थल म तीन भिन्नभिन्न सम्प्रदाय हैं। इनमे शाकटायन भोयेको हरयेक मे यकार का स्वरधर्मिरूप से श्रवण मानते है। शाकल्य भो एक, हर एक, इस प्रकार से दोनो जगह यकार का श्रवण नही मानते। गार्ग्य 'भो एक' म यकार का लोप (अश्रवण) तथा 'हरयेक' म लघुप्रयत्नतर यकार का श्रवण मानते है। त्र्यृच शब्द मे लोक म 'र' तथा य' की अनभिव्यक्ति है और छन्द म उनका लोप हो जाता है। जैसे–तृचम् म। 'त्र्यृपि' म र और य की अनभिव्यक्ति है।

३ वर्णविपर्यय

विपर्यय (वर्णविपर्यय) वर्णों का स्थान परिवर्तन है। अक्षवाहिनी प्रवाह प्रवाढ तथा प्रवाढि शब्दों म अक्षरो के विश्लेषण मे सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन होकर सन्धि होने पर अक्षौहिणी, प्रौह, प्रौढ, प्रौढि प्रयोग बन जाते है। अर्थात् वाहिनी आदि शब्दो म वा शब्द के विश्लेषण मे सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन हो जाने पर अ अ स्वर उ से पूर्व स्थान म आ

जाते है तथा इनकी गुणसन्धि होकर श्रो बन जाता है। श्रो का अक्ष के साथ तथा प्र के अ के साथ सन्धि होने पर अक्षौहिणी प्रौढ आदि शब्द बन जाते हैं।

स्थिर शब्द मे सकार से पूर्व स्वरभक्ति अकार स्थानविपर्यय के द्वारा सकार के बाद आ जाती है तथा सथिर शब्द बन जाता है। पश्चात् आदि के सकार तथा तत्पश्चाद्वर्ती स्वरभक्ति अकार, दोनो के तालव्य हो जाने से शिथिर शब्द बन जाता है। अथवा श्रथ व श्लथ शब्दो म र और थ तथा ल और थ का स्थानविपयय हो जाने से श्थर व श्थल शब्द बन जाते हैं। पश्चात् प्रयत्नदोप से 'श' 'व' 'थ' मे दो इकार और आ जाते है। इस प्रकार शिथिर व शिथिल शब्द बन जाते है। 'पश्यक' शब्द मे प और क का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से कश्यप बन जाता है। तथा श और य का स्थानविपर्यय हो जाने पर यकार मे प्रयत्न के प्रतिबाध से स्पर्श का उत्कप होकर क्रमश वह ज और च मे परिवर्तित हो जाता हैं। और इसी प्रकार प्रयत्न प्रतिबाध से स्पर्श का उत्कर्ष होकर 'श' 'छ' मे परिवर्तित हो जाता है। कच्छप शब्द भी ऐसे ही बनता है। इसी प्रकार कश्य से कच्छ बन जाता है। इसी रीति से एव पद मे पद के आदि मे 'ए' का पदान्तविपर्यय हो जाने से 'वै' शब्द बन जाता है। 'अनश्व' मे अन् शब्द भी न के विपयय से बनता है। अर्थात् न=न्+अ मे न जो आदि मे था, अन्त मे आ जाता है और इस प्रकार न का अन् बन जाता है। इसी प्रकार तु का स्थानविपयय से 'उत्' बन जाता है। 'कृती छेदने' से उ प्रत्यय द्वारा कतु शब्द ही स्थानविपयय से तकु बन जाता है।

[1]ओम् मे अ उ का परस्पर स्थानविपयय हो जाने से ओम का 'वम्' बन जाता है। भम शब्द म ह और र का स्थानविपयय हो जाने पर ब्रह्म बन जाता है। जैसे- भर्म='व् ह्, अ, र् म् अ' म व के स्थान मे र और र के स्थान म ह के आ जाने से ब र् ह अ म् अ=ब्रह्म बन जाता है। बहु शब्द म अ का स्थानविपयय हो कर ह् के बाद आ जाने से तथा अ को उ हो जाने से भू बन जाता है। जस-बहु=

---

1 ओमोऽकारोकारयोव परस्परविपय्ययात्।
भम्मणो हरयोब्रह्म परस्परविपय्ययात् ॥
बहोर उत्यर्मत् सोऽभूद्धात्परो भूरभूवयम्।
धातुस्ततोऽभूद् भूर्भूमिर्भूमा भूयान बहु भुवन ॥
निघ पुनश्दे रहयोर्निघण्टु स्याद् विपय्ययात्।
विक्षेपात् तरयोरेफबिन्दुरवे स्पर्शानद्रुते ॥

् उ मे अ के ह् के पश्चात् आने मे व् ह=भ बन जाता है और अ को उ
ा से सन्धि होकर दीर्घ ऊ हो जाता है और भू बन जाता है। भूमि, भूमा,
आदि मे यही स्थिति है। निर्ग्रन्थु शब्द भी र तथा ह के विपर्यास मे
बन जाता है। जैसे-निर्ग्रन्थु=नि र् ग् र अ न् त् ह् उ मे 'ह' और 'र' का
: स्थानविपर्यय हो जाने से निर्घन्तु बन जाता है। पश्चात् निर् के र्
विक्षेप के कारण स्थानविपर्यय हो जाता है और त् के विन्दु पर आ जाता
: स्पर्शनद्रुति से त् ट मे परिवर्तित हो जाता है।

४ वर्णादेश

¹आरम्भक बल मे जहाँ विशेषक बल के उदय से लोप, आगम तथा
स एक साथ होते है अर्थात् किसी वर्ण के गुण का नाश, किसी का आगम,
का विपर्यास (स्थानपरिवर्तन) होता है, उसे आदेश कहते हैं।

विशेषक बल नाना प्रकार का हो जाता है। प्रत्येक विशेषक-बल तारतम्य
रण पुन नाना प्रकार का हो जाता है। जैसे-गति एक विशेषक बल है।
द्रुति, सम व प्लुति तीन विशेषतायें है। उरस्, कण्ठ व शिरस् ये तीन
:थान हैं। इन स्थानो मे वायु को पहुँचाने वाला बल स्वरोपधायकसञ्ज्ञक
इसमे विशेषक बल के तारतम्य से और भेद हो जाते हैं। जैसे- उदात्त
स्वरित द्रुत गति के कारण अनुदात्त हो जाते है। अनुदात्त व उदात्त
ति के कारण स्वरित बन जाते हैं। इसी प्रकार अनुदात्त और स्वरित
ाति के कारण उदात्त हो जाते है।

इसी तरह सधारण एक दूसरा बल है। उसके कारण प्रतिसवन अर्थात्
कण्ठ व शिरस् इन तीनो सवन स्थानो मे स्वरोपधायक बल मे दो भेद हो
है। वे भेद निगृहीत तथा उद्गृहीत हैं। प्रत्येक सवनस्थान मे निम्न भाग
ृहीत वायु निगृहीत तथा ऊर्ध्वभाग मे गृहीत उद्गृहीत कहलाता है। इसके
ण सन्नतर, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित, उदात्त तथा उदात्ततर ये ६ भेद स्वर
। जाते हैं। उरस् स्थान मे निम्न भाग मे निष्पन्न स्वर सन्नतर (निघात)

आरम्भके बले यत्र विशेषकबलोदयात्।
लोपागमविपर्यासा बलाना स्यु समुच्चयात् ॥
गुणाना कस्यचिन्नाश कस्यचिच्चागम सह।
कस्यचिद्वा विपर्यासस्तमादेश प्रचक्षते ॥

तथा ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न स्वर अनुदात्त कहलाता है। कण्ठस्थान में निम्न भाग म निष्पन्न स्वर स्वरित तथा ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न प्रचित कहलाता है। शिर-स्थान मे निम्नभाग मे निष्पन्न स्वर उदात्त तथा ऊर्ध्व भाग म निष्पन्न उदात्ततर कहलाता है। उपर्युक्त तारतम्यविशेष की अपेक्षा न करने पर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीन ही स्वर होते है। इसीलिए कहा है—"उच्चादुच्चतर नास्ति नीचान्नीचतर तथा।"

इसी प्रकार अङ्गोपधायक बल मे अभिव्याप्ति नामक विशेषक बल होता है उस विशेषक बल मे अवच्छेदतारतम्य या मात्रा नामक अन्य बल रहता है। इसके कारण अक्षर मे ह्रस्व, दीघ व प्लुत ये विशेषताये हो जाती है। एक-मात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत कहलाता है। यह एक छन्द है। स्वरमात्र को अथवा एक या दो या तीन या चार या पांच या छ या सात व्यजनो से अवच्छिन्न स्वर को अक्षर कहते है। यह दूसरा छन्द है।

स्पर्शोपधायक बल मे विवृत,[१] मन्द,[२] दुर्योग,[३] द्विस्थानिक,[४] मृदु,[५] तीव्र[६] अधमम[७] ये सात विशेष हैं। समसाम्मुख्य रूप से अवस्थित स्थानो व करणो के मध्य मे अवगुण्ठित वर्णो के उपादानकारण प्राणवायु मे स्थानो व करणो के स्पर्श का प्रतिबन्ध या अभाव विवृत कहलाता है ॥१॥

स्थानो व करणो म प्राणवायु का स्पर्श न होने पर भी स्पर्शोन्मुख-प्रयत्नता मन्द कहलाता है ॥२॥ अत्यल्पमात्रा मे स्थान व करण म प्राणवायु का स्पर्श दुर्योग कहलाता है। वह करणविषमता के कारण स्पर्शास्पर्शी है ॥३॥ मुख-स्थान मे स्पृष्ट प्राणवायु का उपरि विद्यमान नासानाडी से स्पर्श द्विस्थानिक कहलाता है ॥४॥ मृदुस्पर्श से ग, ज, ड, द, ब, वर्ण उच्चरित होते है ॥५॥ तीव्रस्पर्श से क, च, ट, त, प वर्ण उत्पन्न होते हैं ॥६॥ ऊष्म वर्णो के स्वरभक्ति सहित होने से अशत वे विवृत रहते है और अशत उनमे स्पर्श होता है। इस प्रकार इन विशेषक बलो के सम्बन्ध से स्पर्श मे तारतम्य होने से वर्णान्तर का आदेश हो जाता है। जैसे—इ, उ, ऋ, ऌ ये नामी स्वर है। इन विवृत प्रयत्न वाले स्वरो के स्थान मे असवर्ण स्वर होने पर क्रमश य, र, ल, व, ये ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हो जाते है। जसे—दिव्यस्ति, मध्वस्ति, पित्रागम, लाकृति।

स्थानोपधायक बल मे द्रुति, सम, प्लुति ये विशेषक बल होते है। द्रुतिगति के कारण प्रथम स्थान मे स्थानोपधायक बल का पात होना है। समगति के कारण तालु, मूर्धा, व दन्त इन मध्यमस्थानो म तथा प्लुतगति के कारण ओष्ठरूप उत्तम (अन्तिम) स्थान म स्थानोपधायक बल का पात होता है। मध्यम स्थान मे भी समद्रुति से तालुस्थान मे, सम साम्य से मूर्धा मे तथा समप्लुति से दन्तस्थान मे स्थानोपधायक बल का अवपात होता है। द्रुति के कारण 'त' को 'क' हो जाता है। जैसे—'शुक्' म। प्लुति के कारण 'त' को 'व' हो जाता है। जैसे—'पक्व' मे। सममाम्य के कारण 'त' को 'ट' हो जाता है। जैसे—'कृष्ट' मे। एकस्थानिक 'त' को द्विस्थानिकत्व बल के कारण 'न' हो जाता है। जैसे—वृक्ण, हीन आदि मे। प्लुति तथा द्विस्थानिकत्व के कारण 'त' को 'म' हो जाता है। जैसे—'क्षाम' मे। कही पर स्थानबल तथा स्पर्शबल दोनो की विशेषताओं के आधान से सिद्धि होती है। जैसे—सकार और रेफ को अघोष वर्ण परे होने पर तथा अवसान मे विसर्ग हो जाता है। जैसे—'उच्चै, 'पुन पुन' मे।

अकार से परे विद्यमान 'स' 'ह' बनकर उकार मे परिणत हो जाता है, यदि उससे परे अकार या अघोषवर्ण हो। जैसे–'देवोऽग्नि, देवो गत' आदि मे। आकार से परे सकार को हकार होकर निवृत्ति हो जाती है यदि उससे परे स्वर वर्ण या घोष हो। जैसे—'बाला आयाति, बाला गता' आदि मे। इकारादि स्वरो से परे स को रेफ हो जाता है यदि उससे परे कोई स्वर या घोष वर्ण हो। जैसे—हरिरय, हरिर्गत, भानुरय, भानुर्गत, उच्चैरय, नीचैर्गत आदि मे। स्वर वर्णो से परे रेफ और सकार को अघोष वर्ण परे होने पर उस अघोष वर्ण के स्थानवाला उष्म वर्ण हो जाता है। जैसे—शिव ᳲकरोति, हरिश्चिनोति, भानुष्टीकते, शनैस्तनते, उच्चैᳲपठति आदि में। इस प्रकार के आदेशविकारो मे वर्णगुण लुप्त हो जाते है, या उनका विपर्यय हो जाता है।

५ प्रकृतिभाव

जिसका स्वरूप ही प्रदर्शित करना अभीष्ट है वह प्रकृष्टतया गृहीत होने से प्रगृह्य कहलाता है। वहाँ विकार के कारण के होने पर भी प्रगृहीत होने से उस स्वर की स्वरूप मे प्रच्युति नही होती अर्थात् उसमे कोई विकार नही होता। जैसे ईकारान्त, ऊकारान्त व एकारान्त द्विवचन, ईषदर्थक व अवधिअर्थ वाले

आकार को छोडकर शेष स्वर, तथा ओकारान्त निपात प्रगृह्य होते हैं। इनके क्रमशः-हरी एतौ, विष्णू इमौ, द्रव्ये इमे, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, अहो ईशा उदाहरण हैं। प्रकृतिभाव विवक्षाधीन होता है।

इति श्रीविद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनशर्मप्रणीत पथ्यास्वस्तिग्रन्थ में सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम प्रपाठ की हिन्दीव्याख्या समाप्त।